गिजुभाई ग्रंथमाला-13

मोंटेसरी-पद्धति

भाग-2

गिजुभाई

गिजुभाई-ग्रंथमाला-13

मोंटेसरी-पद्धति

(द्वितीय खण्ड)

लेखक

गिजुभाई

अनुवाद

रामनरेश सोनी

मोंटेसरी-बाल-शिक्षण-समिति,

राजलदेसर (चूरू) 331 802

© विमलाबहन बधेका
दक्षिणामूर्ति-बालमन्दिर
भावनगर 364002 (गुजरात)

प्रकाशक :
मोंटेसरी-बाल-शिक्षण-समिति
राजलदेसर (चूरू)

प्रकाशन-वर्ष : 2009 ई.

प्रतियां : 1,100

मूल्य : छत्तीस रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स
विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

अनुक्रम

बुद्धि का शिक्षण	5
लेखन-शिक्षण	31
वाचन-शिक्षण	66
गणित का शिक्षण	79
चित्रकला	88
हाथ की मेहनत	105
प्रकृति-शिक्षण	109
शारीरिक शिक्षण	126
बालकों का आहार	134
साधन-श्रेणी तथा क्रम	142
दैनिक कार्यक्रम	151
अनुवादक की ओर से	158

प्रकरण दसवाँ

बुद्धि का शिक्षण

मोंटेसरी के द्वारा निर्देशित इन्द्रिय-विकास के साधनों का उपयोग करने से निश्चय ही बालकों की इन्द्रियों का सम्यक् एवं सर्वांगीण विकास होता है, परिणामतः उनका बौद्धिक क्षेत्र अधिक विस्तृत तथा व्यापक बनता है। जब बालक का इन्द्रिय-विकास पूर्ण हो जाए तब अध्यापक को बालक के इन्द्रियगम्य अनुभवों को बुद्धि की तरफ उन्मुख करना चाहिए अर्थात् उसे स्थूल से सूक्ष्म की तरफ तथा इन्द्रिय-अनुभव में से विचारशीलता की तरफ ले जाना चाहिए। जिस प्रकार इन्द्रिय-विकास के लिए इन्द्रिय को अमुक अनुभव प्रदान करने के लिए उसे अन्य इन्द्रियों से अलग किया गया था अर्थात् अन्य इन्द्रियों के व्यापारों को बन्द करके एक ही इन्द्रिय के व्यापार को संभव बनाया गया था, उसी प्रकार इस बौद्धिक-विकास को सिद्ध करने के लिए बालक के ध्यान की अन्य दिशाएं रोक कर उसे एक ही दिशा में स्थिर करना पड़ेगा।

इसी बात को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि इन्द्रिय-विकास के समय जिस इन्द्रिय का शिक्षण करना था उसे हम बाह्य उपाधि से मुक्त कर देते थे, इसी प्रकार जिस समय हमें बुद्धि का शिक्षण करना हो उस समय हमें बाल मन की अन्य तमाम प्रवृत्तियों को इसी एक दिशा में केन्द्रित कर देनी चाहिए।

शुद्ध इन्द्रियगम्य अनुभव ठेठ अल्प वय से ही दिए जाने चाहिए। जब कोई बाहर की वस्तु उत्तेजक इन्द्रिय के परिचय में आती है तब इन्द्रिय को धक्का-सा लगता है। तब इन्द्रिय को जो अनुभव होता है वह स्वयं में ज्ञान नहीं होता। अकेला निराला अनुभव वहीं का वहीं पड़ा रहता है, वह जीवन की प्रगति में काम नहीं आता। लेकिन हमें जो-जो अनुभव आगे-पीछे हुए होते हैं, उन-उनके साथ जब यह अनुभव जुड़ता है तब

जाकर वह ज्ञान के मार्ग में उपयोगी बनता है। इस प्रकार होने वाले अनुभव को भाषा देने का काम बुद्धि विकास के प्रदेश में आता है। यह काम करने के लिए शिक्षक से निश्चित पद्धति के विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा है। मोंटेसरी-पद्धति के सूत्र को तो शिक्षक को हरदम पकड़े हुए ही रखना चाहिए। उसे बालक की बुद्धि के नए प्रदेश को अनावृत करने के काम में अपनी दखल या मदद करने की समझदारी को संयमित-संकुचित ही रखना होगा। बालक अकेले-अकेले स्वयं-शिक्षण करते-करते जब तक उकता न जाए तब तक तो शिक्षक को अपना व्यक्तित्व अलग रखते हुए प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। ऐसे ही समय शिक्षक के व्यक्तित्व का वास्तविक अर्थ पता लगता है। कब उसे बालक और उसमें अनुभव के बीच आना उचित रहता है और कब तक उसे दूर रहना चाहिए यह निर्णय करने की विवेक-बुद्धि में ही शिक्षक की आत्मा और उसकी यथार्थ कला प्रकट होती है। उसका सच्चा व्यक्तित्व इसी कला में निहित है।

बुद्धि के शिक्षण में पहली चीज है शब्द का यथार्थ ज्ञान। वस्तु के साथ शब्द को भलीभांति जोड़ने का काम अत्यंत विवेक तथा सावधानी से किया जाना चाहिए। शब्द के सही ज्ञान के लिए अर्थपूर्ण और सही शब्दों का चयन आधार रूप है। अन्य निरर्थक नामों या विशेषणों को व्यवहार में लाये बगैर जिन शब्दों का ज्ञान दिया जाना समीचीन लगे, उन्हीं शब्दों (मात्र उन्हीं संज्ञाओं एवं विशेषणों) का शिक्षक को शुद्धता, स्पष्टता एवं सस्वर उच्चारण करना चाहिए। उच्चारण इस तरह से हो ताकि शब्दों और अक्षरों की ध्वनियाँ एक-एक कर बालक के कान को स्पष्टता और सफाई से सुनाई दे सकें।

उदाहरण के लिए स्पर्श का अभ्यास करने के लिए शिक्षक को चिकने और खुरदरे गत्तों पर हाथ फेरते-फेरते 'यह चिकना', 'यह खुरदरा' शब्दों का उच्चारण करना होगा। आवाज साफ हो, उसमें स्वर का बलाबल भी हो–कभी ऊंचा तो कभी नीचा, ताकि बालक के कानों को समुचित अभ्यास मिले। इसी तरह ठंडे और गरम अनुभवों को शब्द देते समय भी

शिक्षक को बालक से उपर्युक्त रीति से शब्द बुलवाए जाने चाहिए, यथा–'यह ठंडा', 'यह गरम', 'यह ठंडाटीप', 'यह उकलता', 'यह तपता', 'यह कुनकुना'।

इस शब्द-पाठ का उद्देश्य है पदार्थ के नाम का (संज्ञा का) अथवा पदार्थ के नाम से व्यक्त होने वाले विचार का पदार्थ के साथ योग उत्पन्न करना। बालक के मन में पदार्थ तथा नाम का साहचर्य (एसोसिएशन) सुस्पष्ट हो अतः पदार्थ के नाम के साथ एक भी शब्द नहीं बोलना चाहिए। पदार्थ और उसके नाम के बीच तीसरा एक भी शब्द नहीं आना चाहिए।

पदार्थ और शब्द के इस योग को साधने के लिए बालक को पाठ पढ़ाये जाने के पश्चात् शिक्षक को पाठ की सफलता हुई अथवा नहीं, यह जानने के लिए बालक की परख कर लेनी चाहिए। यहाँ परख शब्द को 'प्रयोग' के अर्थ में लेना चाहिए न कि परीक्षा के अर्थ में।

पहली परख यह करनी है कि बालक के मन में पदार्थ के साथ जुड़ी हुई नाम की संज्ञा अभी जुड़ी हुई है अथवा नहीं। पाठ पढ़ाने के बाद पाठ और परख के बीच थोड़े समय का अंतराल गुजरने देना चाहिए। इसके बाद शिक्षक को जो नाम अथवा विशेषण सिखाना हो, उसे धीमे-से, लेकिन स्पष्टता से बोल कर उसके साथ सम्बन्ध रखने वाला पदार्थ बताने के लिए कहना चाहिए, यथा—चिकना कौनसा ? खुरदरा कौनसा ? लाल कौनसा ? आसमानी कौनसा ? आदि ।

जब बालक अपनी उंगली के संकेत से सही पदार्थ बताने लग जाए तब समझना चाहिए कि बालक के मन में शब्द तथा पदार्थ के मध्य संबंध स्थापित हो चुका है। लेकिन यदि बालक बता न सके, तो शिक्षक को भूल-सुधार करने की जरूरत नहीं है। उस वक्त तो उसे वह पाठ पढ़ाने का काम किसी और अनुकूल दिन के लिए स्थगित ही कर देना चाहिए। भूल-सुधरवाने का कोई अर्थ ही नहीं है।

बालक भूल इसलिए करता है क्योंकि उसके मस्तिष्क में पदार्थ के अनुभव और पदार्थ की संज्ञा के बीच योग नहीं बना। अतएव यदि भूल

सुधरवानी हो तो एक ही मार्ग है कि पदार्थ के अनुभव का तथा पदार्थ के अनुभव के साथ नाम जोड़ने की क्रिया का पुनरावर्तन किया जाए। लेकिन जिस समय बालक निष्फल होता है, उस समय तो पुनरावर्तन हर्गिज नहीं करना चाहिए। इसके पीछे कारण यह है कि जिस समय हम बालक से जिस प्रकार का मानसिक योग कराना चाहते थे, उस समय वह तैयार नहीं था। वह एकाग्र नहीं हो सका अतः निष्फल रहा। इस काम के लिए हमें किसी अन्य अनुकूल क्षण की प्रतीक्षा करनी होगी। जब बालक भूल करता है तब हम उपर्युक्त रीति से व्यवहार करने की बजाय उसकी भूल को सुधारते हैं तथा कहते हैं कि 'तुम्हें तो आता ही नहीं। तुमने तो अमुक गलती कर दी।' इससे बालक निराश हो जाएगा। यही नहीं, हमारा कथन उसे उलाहने के समान लगेगा। उलाहने के शब्दपाठ के शब्दों की अपेक्षा अधिक आसानी व दृढ़ता से बालक को याद रहेंगे। इससे शब्द सीखने की उसकी क्षमता बाधित होगी परन्तु जब भी गलती हो जाए तो मुस्कुराते हुए सम्मानपूर्वक पाठ बंद कर दिया जाता है तो उससे बालक के दिमाग में कोई उलझन नहीं होती और अगली बार का पाठ सरलता व सफलता से पढ़ाना संभव हो जाता है। बालक की गलती निकाले जाने से वह गलती न होने देने के लिए अधिक अयोग्य प्रयास से पाठ को याद करने के लिए प्रेरित हो जाता है या फिर वह निराश हो जाता है। हमें बालक पर पड़ने वाले अत्यधिक बोझ एवं निराशा को शिक्षण से निकाल बाहर करना चाहिए। यदि बालक पदार्थ को उसकी संज्ञा के साथ जोड़ने की क्रिया में सफल हो जाता है तो हमें उसको तीसरे सोपान पर चढ़ाना चाहिए। यह सोपान है पदार्थ को लेकर बालक को जो संज्ञा का ज्ञान हुआ, उसको वाणी द्वारा व्यक्त कराया जाना अर्थात् पदार्थ के अनुभव को नाम देना। शिक्षक यह पूछे कि 'यह क्या है?' इसके उत्तर में बालक कहेगा कि 'यह चिकना है?'

यदि बालक शब्द का सही उच्चारण न कर सके तो शिक्षक को उसे शब्दोच्चार करना सिखाना है। बालक को श्वास भर कर जोर से शब्द बुलवाना चाहिए। जब बालक शब्द का उच्चारण कर रहा हो, उस समय

शिक्षक को यह अवलोकन करना चाहिए कि उसके उच्चारण में कोई त्रुटि न रहे।

इस प्रकार बालक को अनेक प्रकार के अनुभवों की संज्ञाएं समझ में आएंगी, फलतः पदार्थों के सम्बन्ध में बालक के मन में अमुक विचार पैदा होने लगेंगे। यह उनका विशिष्ट ज्ञान होगा अर्थात् उन्हें खुरदरे और चिकने पदार्थों का ज्ञान होगा, इसी भांति लाल-नीली तख्तियों द्वारा लाल-नीले रंगों का ज्ञान होगा। इस विशिष्ट ज्ञान द्वारा बालकों को सामान्य ज्ञान की तरफ ले जाने की कत्तई जरूरत नहीं है। बालक को जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उस ज्ञान को शाला के वातावरण में व्यक्त करने की जल्दबाजी दिखाने की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इसके लिए अन्य पाठ पढ़ाने की या खास तौर से वातावरण की तरफ बालक का ध्यान खीचने की भी जरूरत नहीं है। जब वे अमुक समय तक चिकने या खुरदरे गत्तों पर हाथ फेरने लगेंगे अथवा कपड़े के विविध टुकड़ों को छूकर स्पर्श का अनुभव करेंगे तदुपरांत वे अपने आप अपने आस-पास की तरह-तरह की सतहों का स्पर्श करने लगेंगे और वे बताने लगेंगे कि यह चिकना है, यह खुरदरा है, यह मखमल जैसा है, यह ऊन जैसा है, आदि-आदि। अलबत्ता, मंदबुद्धि के बालकों को विशेष ज्ञान देने के पश्चात् सामान्य ज्ञान में पाठ बताने जरूरी होंगे, पर जब हम सामान्य बुद्धि के बालकों को शिक्षा दे रहे हों तो जब तक बालक बड़े शोधकर्त्ताओं की भांति सम्पूर्ण वातावरण के गुप्त रहस्यों को अपने-आप न समझने लगे और वातावरण का आनंद स्वतः न लेने लगे तब तक हमें चुपचाप बैठे रहना चाहिए। ज्योंही बालक को अपनी बढ़ी हुई शक्ति का भान होगा त्योंही वह अपनी महत्ता को समझने लगेगा और अपनी परिस्थितियों द्वारा नया-नया ज्ञान तलाशने का आनंद व संतोष स्वतः लेने लगेगा। ऐसे बालकों की अवलोकन की आदत स्वतः सिद्ध होती जाती है।

शिक्षक को इस बात की अत्यन्त आतुरता एवं गौर से प्रतीक्षा करनी चाहिए कि उसने बालकों को जो विशिष्ट ज्ञान दिया था उसको वे कब और किस रीति से व्यापक बनाते हैं। बहुधा उन्हें यह पता नहीं लगता कि बालक अपने ज्ञान को कब से व्यापकता देने लगे हैं। लाल और नीली

तख्तियों के ज्ञान द्वारा बालक इस संसार में दिखाई देने वाले लाल और नीले रंगों में आनंद लेने की सामर्थ्य कब प्राप्त करते हैं इस पर शिक्षक को बहुत-बहुत ध्यान देने की जरूरत है। जिस बालक को नीले रंग का ज्ञान हो गया, एक बार मैंने देखा कि वह दौड़ते-दौड़ते एकाएक रुक गया था और टकटकी लगाकर आकाश को देखने लगा था। आश्चर्य में भर कर वह बोल उठा था; 'आहा! 'यह आकाश नीला है', 'यह आकाश नीला है।'

डॉ. मोंटेसरी कहती हैं कि जब मैं एक बार बालगृह में गई तो पांच-छह नन्हें बच्चे मेरे चारों ओर इकट्ठे हो गए और अपने कोमल हाथ मेरे वस्त्रों पर धीरे-धीरे फेरने लगे और कहने लगे: 'अरे! यह तो मुलायम है, मखमल जैसा है। यह तो खुरदरा है।' फिर तो कई बच्चे मेरे पास आ खड़े हुए और उन्हीं बच्चों की भांति हाथ फेरते हुए अपनी-अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगे। वहां की अध्यापिका ने जब मुझे बच्चों से घिरा देखा तो उन्हें हटाने की बात सोचने लगी। मैंने उसे संकेत से शांत किया। जब तक उन बच्चों की वह प्रवृत्ति चलती रही तब तक मैं वहीं शांति और सहजता से बैठी रही। मैं एक शब्द भी नहीं बोली। उन बालकों का सहज-सुंदर इन्द्रिय विकास हुआ था, परिणामतः उनके व्यापक बौद्धिक विकास को देखकर मैं मन ही मन प्रशंसा करने लगी। मुझे लगा कि यही मेरी शिक्षण-विधि की सम्पूर्ण विजय है। बालकों में स्वयं प्रवृत्ति उत्पन्न करने की अपनी शिक्षण-पद्धति की शक्ति-सामर्थ्य को मैंने महसूस किया।

डॉ. मोंटेसरी कहती हैं कि एक दिन एक नन्हें बच्चे ने पेड़ के स्कैच में रंग भरना शुरू किया। उसके पास पेंसिल वाले रंग थे। पेड़ के तने में रंग भरने के लिए उसने लाल पेन्सिल उठाई और रंग भरने लगा। पास खड़े अध्यापक से रहा नहीं गया। वह सोचने लगा कि बालक को रोक क्यों न दे कि तने में लाल रंग नहीं भरा जाता। मैंने संकेत से अध्यापक को रोका और बालक को पेड़ के तने में लाल रंग भरने दिया। वह चित्र मेरे लिए बहुमूल्य था। उससे जाहिर था कि बालक ने अभी तक अपनी परिस्थिति– अपने चतुर्दिक वातावरण का पूरी तरह से अवलोकन नहीं किया था।

इसके उपाय हेतु मैंने बालक को रंगों का संदूक लेकर उससे खेलने को अत्यधिक उत्साहित किया। वह बालक अन्य बालकों के साथ बगीचे में खेलने जाता ही था और वहां उसे पेड़ों के तने देखने को मिलते थे। मेरी मान्यता थी कि रंगों की तख्तियों के साथ खेलते-खेलते कभी न कभी बालक का ध्यान स्वतः अपने आसपास के रंगों की ओर अवश्य जाएगा और जिस तरह उपर्युक्त बालक को 'आकाश नीला है' के सत्य का दर्शन स्वतः हुआ उसी तरह किसी आनंद के क्षण इस बालक को भी वृक्ष के रंग का सत्य स्वतः दिखाई दे जाएगा। मेरे निर्देशानुसार अध्यापकजी उस बालक को वृक्ष के रेखाचित्र की प्रतियाँ बराबर देते जा रहे थे। अंततः सत्य-दर्शन का दिन आया। उस बच्चे ने वृक्ष का तना रंगने के लिए भूरे रंग का प्रयोग किया और डालियों में हरे रंग का। आखिरकार उसने डालियां भी भूरे रंग में दिखाईं और सिर्फ पत्तों को हरे रंग से अभिव्यंजित किया।

इस प्रकार बालक के मानसिक विकास की परीक्षा हो जाती है। 'अवलोकन करो', 'अवलोकन करो' की चीख-पुकार मचाने से हम किसी को अवलोकनकर्त्ता नहीं बना सकते। यदि हम बालकों को सच्चे अवलोकनकर्त्ता बनाना चाहते हैं तो हमें बालकों को अवलोकनकर्त्ता बनने की शक्ति और साधन दोनों जुटाने होंगे। ये साधन इन्द्रिय-विकास में निमित-स्वरूप रहते ही हैं। एक बार हम बालक को उपर्युक्त रीति से शिक्षण का मार्ग बता देंगे तो स्वयं-शिक्षण का प्रश्न अपने आप हल हो जाएगा। फिर तो हमारे द्वारा संस्कारित इन्द्रियां अपने-आप वातावरण का गहन अवलोकन करने के लिए सहज ही दौड़ी जाएंगी और उनके द्वारा इन्द्रियों और मन का विकास अर्थात् शिक्षण की प्रक्रिया चलती ही रहेगी।

परन्तु यदि हम उपर्युक्त पद्धति से पहले विशेष और फिर सामान्य मर्यादित और फिर व्यापक विकास के मार्ग में बालक को ले जाने की बजाय उसे प्राचीन पद्धति पर ही लिए चलेंगे तो उसका सच्चा शिक्षण नहीं हो पाएगा। प्राचीन पद्धति के अनुसार शिक्षक विद्यार्थी को रंगों के नाम का पाठ पढ़ाता है, अर्थात् वस्तुतः वह विद्यार्थी को रंग का विशिष्ट गुण तो

सिखाता है, पर वह रंगों के प्रति बालक की दृष्टि को संस्कारित नहीं करता। बालक यह तो सीख जाता है कि अमुक पदार्थों के अमुक रंग होते हैं, उसे रंगों के नाम भी आ जाते हैं, परन्तु चूंकि रंग पदार्थों से जुड़े हुए होते हैं, अतः उक्त क्रिया से बालक को रंग का सामान्य संस्कारी शिक्षण नहीं मिल पाता। बालक को महज रंग का सतही ज्ञान ही मिल पाता है। वह बार-बार रंगों का नाम भूल जाता है। फिर बालक को अमुक पदार्थों के रंगों द्वारा रंग का ज्ञान दिया जाता है अतः उसकी रंग की दुनिया अमुक रंगों के अमुक पदार्थों तक ही सीमित-मर्यादित रहती है। अतः जब प्राचीन पद्धति का शिक्षक अलग-अलग रंगों के अलग-अलग पदार्थो के नाम बालक के सम्मुख रखता है और इस प्रकार वह बालक को रंग का शिक्षण देने का प्रयास करता है तो सच जानें कि इस तरह बालक का मन रंगों के बजाय पदार्थों से जा चिपकता है। उसके मन में रंग नहीं समाते। परिणामतः ऐसा शिक्षण निरर्थक जाता है।

हम किसी घड़ी के पैंडेलुम को रोक लें और अपनी उंगली से उसके कांटे डायल पर घुमाएं तो इससे घड़ी तो नहीं चल पाएगी, हम ही कांटों को चलाएंगे। बस, वह चलती हुई दिखाई अवश्य देगी। कई अध्यापक इसी तरह विद्यार्थियों की अपनी चेतना की गतिमयता को पकड़कर रोक देते हैं और स्वयं विद्यार्थियों की सुइयों को चलाते हैं। वे अपनी मनचाही बातें उनके मस्तिष्क में ठूंसते हैं। इससे विद्यार्थियों को कुछ भी नहीं मिल पाता। शिक्षण की प्राचीन पद्धति की तुलना उपर्युक्त घड़ी से की जा सकती है जबकि नई शिक्षण पद्धति की तुलना एक ऐसी घड़ी से की जा सकती हैं, जिसे मात्र चाबी दी जाती है और उसका सारा काम अपने आप चलने लग जाता है। हमें उसे छूने तक की जरूरत नहीं पड़ती। एक बार चाबी भरते ही घड़ी के पुरजों में एक संबंध गतिमान हो जाता है और घड़ी चलने लगती है। फिर चलने और चाबी देने वाले के बीच कोई संबंध नहीं रह जाता। इसी तरह नई शिक्षण विधि में शिक्षक एक बार दिशा बता देता है, फिर तो स्वयं-शिक्षण का काम स्वतः चलने लगता है। तब शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य परस्पर अवलंबन का सवाल ही शेष नहीं रह जाता।

शिक्षक का काम यंत्र को गतिशील करना है। एक बार स्वयं-स्फुरणा उत्पन्न हुई और परिणामतः बालक के विकास का काम चलने लगा, कि फिर तो उसका विकास अनंत काल तक चलता ही रहेगा। शिक्षक को तो बस इतना ही करना है कि वह एक बार चाबी लगा दे। मोंटेसरी पद्धति में यह चाबी इन्द्रियों के शिक्षण में निहित है। एक बार इन्द्रियों के शिक्षण का काम शुरू हुआ नहीं, कि वह मार्ग बुद्धि के प्रदेश तक विशाल से विशालतम होता जाता है। शिकारी कुत्ता शिकार करने की शक्ति अपने मालिक द्वारा दिए गए प्रशिक्षण से प्राप्त नहीं कर सकता। यह शक्ति तो उसे उसकी तीव्र इन्द्रियों के द्वारा ही सुलभ होती है। जब उन तीव्र इन्द्रियों को योग्य एवं सुसंगत क्षेत्र मिल जाता है तो शिकार करने का काम–इन्द्रियों का उपयोग करके शिकार तलाशने का काम कुत्ते के लिए एक आनंद हो जाता है। इस आनंद का स्वाद लेने के लिए कुत्ता शिकार के पीछे दौड़ता है। इन्द्रियों के विकास के कारण वे अपना कार्यक्षेत्र तलाश लेती हैं, उस कार्यक्षेत्र में क्रिया करने से पुनः इन्द्रियों की शक्ति बढ़ने लगती है। एक बार इन्द्रियों का विकास हो जाने पर क्रिया के द्वारा इनके विकास की परिपक्वता-पराकाष्ठा जमने लगती है : परंतु एक बार का स्वतंत्र विकास तो आवश्यक ही है।

इसी तरह जिस बालक की ध्वनि संबंधी इन्द्रिय संस्कारित-शिक्षित होती है वह पियानो या अन्य वाद्य-यन्त्रों पर अपनी शक्ति का रियाज करता है, अपने हाथों का अभ्यास करता है और इस प्रकार वह अधिकाधिक संगीतप्रिय बनता जाता है और वाद्ययंत्र से नयी-नयी चमत्कारी धुनें निकाल कर आनंदित होता है।

कहना न होगा कि इस प्रकार दोहरा काम शुरू हो जाता है और विद्यार्थी अपनी अंतःशक्ति की मर्यादाओं तक विकास करने लगता है। अब यदि कोई भौमिति-शास्त्र का अध्येता अपने शास्त्रीय-ज्ञान के बल पर संगीत के नियमों को जान ले और अच्छा-खासा शिक्षण अर्जित कर ले, तब भी इतना तय है कि वह कोई साधारण-सा गीत भी नहीं गा सकता।

डॉ. मोंटेसरी की शिक्षा का उद्देश्य बालक के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्व-स्फुरित विकास को सहायता देना है, न कि बालक को पढ़ा-लिखा कर शिक्षित बनाना। डॉ. मोंटेसरी व्यक्ति को पोथी-पंडित या किताबी-कीड़ा बनाना नहीं चाहतीं, न ज्ञान का भार ढोने वाला बंधुआ मजदूर बनाना चाहतीं। शिक्षाशास्त्री की सच्ची कला, नन्हें बालक के व्यक्तित्व का विकास करने में किस तरह सहायता दी जाए, यह बताने में है। इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति के संबंध में जिन शिक्षकों का सच्चा-सही दृष्टिकोण होता है, उन्हें बालकों में विद्यमान वैयक्तिक विभिन्नताएं तत्काल ज्ञात हो जाती हैं और वे प्रत्येक विभिन्नता के अनुरूप उन्हें मदद देने में उद्यत हो जाते हैं। वे बालकों के स्वभाव की विचित्रताएँ भली-भाँति जानते हैं। उनकी रुचिगत विभिन्नता की महिमा से वे अवगत होते हैं। वे जानते हैं कि कुछ बालक ऐसे होते हैं जिन्हें शिक्षक की किसी भी प्रकार की मदद की आवश्यकता नहीं होती, जबकि कुछ ऐसे होते हैं जिनका शिक्षक और शिक्षण के बगैर काम तक नहीं चलता। बाल-शिक्षण में जहां भी जरूरत आ पड़े, यह सिद्धांत स्वीकार किया ही जाना चाहिए कि शिक्षण-कार्य में शिक्षक कम से कम बीच में आए और अधिक से अधिक अप्रत्यक्ष रहे। शिक्षण देने की आवश्यकता महसूस हो तब भी बालकों की स्व-क्रिया के तमाम प्रयासों को आजमाये बिना शिक्षक को एकदम से सीधे ही शिक्षण करने लग जाना इष्ट नहीं है।

शिक्षण देने की आवश्यकता आ पड़े, वहां भी स्व-क्रिया द्वारा शिक्षण कैसे देना चाहिए, इसके दो दृष्टांत यहां दिये जा रहे हैं।

आँखों पर पट्टियाँ बांधकर खेला जाने वाला खेल।

इस खेल में स्पर्शेन्द्रिय के विकास को अभ्यास देने वाले विभिन्न सतहों वाले कपड़ों के टुकड़े साधन रूप हैं। जिस बालक को कपड़ों के टुकड़ों के नाम और उनकी सतहों का ज्ञान हो, उसे बुलाकर टेबिल पर बिठा दिया जाता है। टेबिल ऐसे स्थान पर होती है कि जहां से उस पर बैठा हुआ बालक सब को नजर आता हो। इस बालक की आंखों पर पट्टी

बांध दी जाती है और उसे कहा जाता है कि तरह-तरह के कपड़ों के टुकड़ों को वह स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा पहचाने। बालक कपड़ों के टुकड़ों को एक-एक कर छूता है, उस पर हाथ फेरता है, अपनी दो उंगलियों के बीच हल्के से मसलकर देखता है और फिर कहने लगता है–'यह मखमल है', 'यह खुरदरा है,' 'यह चिकना है' आदि-आदि। बालक को यह क्रिया करते देखकर अन्य बालक वहां आ जाते हैं और एक तरह का मजा आने लगता है। दूसरे बालकों में भी इस खेल की चेतना जागने लगती है। इस तरह खेल का शिक्षण बेढंगी रीति से बढ़ने लगता है। जब पट्टी बंधे बालक के हाथ में कागज, चाकू या अन्य कोई वस्तु दी जाती है और वह उन्हें चटपट पहचान लेता है तो पास खड़ी बाल-मंडली अचरज में पड़ जाती है।

वजन परखने का खेल भी बालकों को ऐसा ही आनंद देता है।

जिस बालक को वजन का खेल समझाया हुआ होता है उसे उपर्युक्त रीति से टेबिल पर बिठाकर उसी आंखों पर पट्टी बांध दी जाती है और उससे खेल खेलने को कहा जाता है। बालक दो-दो तख्तियाँ अपने हाथ में उठाता है, हाथ में उनका वजन परखता है और एक तरफ हल्की तख्तियां रखता जाता है तथा दूसरी तरफ वजनी तख्तियां रखता जाता है। बालक के हाथ में कई बार एक-समान वजन की और एक-समान रंग की तख्तियां आ जाती हैं, पर वजन परखने की शक्ति के बल पर वह निर्णय कर लेता है कि उन्हें किधर रखा जाए, और उसके काम में कोई गलती नहीं होती। जब बालक गलती करने के बिन्दु पर आता है और एक-से रंग की तख्तियां एक ही तरफ रख देता है तो देखने वाले बालकों को जरा अटपटा लगता है, उनके चेहरे पर निराशा के चिह्न उभर आते हैं। लेकिन जब सभी तख्तियां भली-भांति रख दी जाती हैं और एक भी त्रुटि नहीं होती तब जो खुशी की लहर छाती है और जो तालियां गूंजती हैं, उनका तो कहना ही क्या? इस खेल में खेलने वालों और देखने वालों को कभी-कभी लगता है कि क्या उंगलियों और हाथों से भी तख्तियों को देखा जा सकता है?

कद तथा आकार परखने का खेल।

उपर्युक्त खेल की ही भांति एक अन्य खेल बालगृह में खेला जाता है। यह खेल ऐसा है कि जिससे आंखों की सहायता लिए बिना रूप को जानने-पहचानने की इन्द्रिय का विकास किया जाता है। इस खेल के साधन मुख्य रूप से सिक्के, फ्रॉबेल के घन व ईंटें, सूखे बीज, मटर और परबोड़ियां होते हैं। इस खेल में उपर्युक्त खेलों जितना आनंद भले ही न आए पर बालकों को पदार्थों के गुणों और नामों का अच्छा-खासा परिचय हो जाता है।

इन्द्रिय-विकास के साधनों एवं विधि के बारे में आगे के प्रकरणों में लिखा गया है। इन्द्रिय-विकास को तभी सफल कहा जाता है जब साधनों के द्वारा विकसित की गई शक्तियों से बालक अपने आसपास की दुनिया से स्वतः ज्ञान अर्जित करने लग जाए अर्थात् जब उसकी इन्द्रियां उसके लिए ज्ञानार्जन की उत्तम उपकरण बन जाएं। इन्द्रिय-विकास की परिपूर्णता पदार्थों की संज्ञा के परिचय में निहित है, अर्थात् इन्द्रियां ज्ञानार्जन की उपकरण बनें, उससे पहले इन्द्रियगम्य गुणों के नामों का शिक्षण आवश्यक है। इस शिक्षण को 'शब्द-संज्ञा का शिक्षण' नाम दिया जा सकता है। मोंटेसरी शिक्षण-पद्धति में ऐसे शिक्षण को बौद्धिक-शिक्षण के नाम से सम्बोधित किया गया है। इसकी वजह यह है कि इन्द्रियों के अनुभव में जो बात आई हुई हो उसे शब्दों के द्वारा व्यक्त करने से बौद्धिक-विकास के मार्ग में अनुकूलता मिलती है। भाषा की सावधानी के बगैर इन्द्रियगम्य गुणों का ज्ञान अस्पष्ट रहता है तथा परिणामतः उनका विनिमय अथवा उपयोग लगभग कठिन हो जाता है। अतएव इन्द्रियों द्वारा जाने हुए ज्ञान को शब्द के साथ जोड़ने का प्रबंध मोंटेसरी पद्धति में अत्यावश्यक माना गया है।

अब हमें यह देखता है कि दृश्येन्द्रिय के विकास अथवा उसके अनुभव को शब्द के साथ कैसे जोड़ा जाए! जिस प्रकार इन्द्रिय-विकास हो जाने पर आंखों को यह संसार चमत्कारपूर्ण लगा था, यहां के रूप-रंग की

अनेकानेक वस्तुएं जीवंत लगी थीं, उसी प्रकार शब्दों के साथ आंखों के अनुभवों को जोड़ने पर रूप एवं रंग की दुनिया को जब बालक नाम से (उसकी व्यावहारिक संज्ञा से) पहचानने लगेगा, उसका आनंद और अधिक बढ़ने लगेगा, तो बालक का इस संसार में प्रवेश सरल हो जाएगा। हमारी दुनिया में भाषा की कितनी निश्चितता है, वह हम सब भली-भांति जानते हैं। जब तक अनुभवों को अभिव्यक्ति देने में भाषा स्पष्ट व सक्षम नहीं होती तब तक हमारा बौद्धिक प्रदेश निर्मल नहीं होता। कई बच्चे 'मोटा ताजा' और 'बड़ा' तथा 'लम्बा' और 'ऊंचा' शब्दों को समानार्थी समझ कर काम में लेते हैं। इससे उनका विचार व्यक्त करने का तरीका अस्पष्ट हो जाता है और वे अपने अनुभव न समझ सकते न समझा सकते। वाणी विचारों का वाहन होती है अतः स्पष्टता अत्यावश्यक है।

दृश्येन्द्रिय के शिक्षण-उपकरणों के साथ संज्ञा को जोड़ने की विधि।

कद के उपकरण

जब बालक तीनों गट्टापेटियों को भलीभांति उपयोग में लाने लगे और वह फटाफट गट्टे खानों में डालने लगे, तब यह समझ लिया जाता है कि उसकी दृश्येन्द्रिय का पूर्ण विकास हो चुका है और तब उन पदार्थों के गुणों के साथ संज्ञा का परिचय कराया जाता है। अध्यापक एक-समान ऊंचाई वाले लेकिन क्रमशः घटते व्यास वाले गट्टे उन खानों से बाहर निकाल लेता है और उन्हें एक टेबिल पर पास-पास आड़े रख देता है। तब वह दोनों सिरों के गट्टे हाथ में लेकर कहता है कि 'यह मोटा है', 'यह पतला है'। इसके बाद वह किनारे के दो और गट्टे उठा कर उनके पास रखता है ताकि उनके बीच के अंतर को अच्छी तरह से देखा-समझा जा सके। तब वह उनके बटन पकड़ कर निचले भागों की तुलना करता है और दोनों के फर्क की तरफ ध्यान खींचता है। फिर वह दोनों को खड़ा करता है ताकि बालकों का ध्यान उनकी लम्बाई की तरफ जाए। अध्यापक कहता है : 'यह पतला है', 'यह मोटा है'। तब वह बालकों से पूछता है 'पतला कौनसा है?' 'मोटा कौनसा है?' इन प्रश्नों का उत्तर बालक

जानते हैं। अतः वह 'यह कैसा है ?' 'यह कैसा है ?' प्रश्न पूछ कर पाठ पूरा करता है। तब अध्यापक गट्टा-पेटी के अंतिम दो गट्टों को एक किनारे रखकर शेष गट्टों में से किनारे के गट्टे चुन कर उपर्युक्त रीति से पाठ पढ़ाता है। जब सारे गट्टों की जानकारी पूरी हो जाती है तो गट्टों में से कोई-सा एक उठा कर वह बालकों से कहता है–'जरा इससे पतला गट्टा बताओ।' बारी-बारी से सभी गट्टों के बारे में ऐसा ही सवाल पूछा जाता है।

इसी भांति गट्टों की दूसरी पेटी लेकर 'छोटा' और 'बड़ा' शब्द सिखाया जाता है। सभी गट्टों को क्रमवार रखकर अध्यापक एक गट्टे को छूता है और कहता है : 'यह बड़ा है।' तब किनारे वाले को छूकर वह कहता है 'यह छोटा है।' दोनों को पास-पास रखकर वह बालकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करता है कि दोनों के बीच कितना फर्क है। प्रथम गट्टा पेटी बताते समय जिस विधि को अपनाया गया था, वैसी ही इसके साथ अपनायी जाती है। दूसरी पेटी के गट्टे निकालकर 'ऊंचा' और 'नीचा' शब्दों का ज्ञान कराना है। इसके लिए वह गट्टे पेटी से बाहर निकाले और उन्हें टेबिल या जमीन पर खड़ी स्थिति में जमाए। किनारे के दो गट्टों को 'यह ऊंचा', 'यह नीचा' कहकर पुकारे। दोनों को पास-पास खड़ा रखकर दोनों का आधार एक-समान है, यह बताए। तब अध्यापक सेगुइन की शिक्षण विधि वाले चरणों का इस्तेमाल करते हुए शब्दों का ज्ञान कराए। जो क्रिया प्रथम पेटी के साथ अपनाई थी, वह इसके साथ भी अपनाई जाए।

इसी प्रकार मीनारों, लम्बी सीढ़ी और चौड़ी सीढ़ी के साधनों द्वारा मोटा, पतला, लंबा, नाटा, मोटा, छोटा आदि शब्दों का ज्ञान कराया जाए।

इस प्रकार का विशिष्ट शब्द ज्ञान हो जाने के पश्चात् इस ज्ञान की व्यापकता आहिस्ते-आहिस्ते वातावरण में प्रतिबिम्बित होगी, अर्थात् इन गट्टा-पेटियों के साथ जुड़े शब्दों को बच्चे वातावरण में विद्यमान समान गुणधर्म वाले पदार्थों के साथ काम में लेंगे तथा अनुभव द्वारा चेतनामय बने वातावरण को वाणी द्वारा पहचानेंगे। वे आपस में अपनी ऊंचाई मापने लग

जाएंगे और यह देखने लगेंगे कि कौन ऊंचा है और कौन नाटा है। वे किसी लंबे व्यक्ति के पास खड़े रह कर अपनी ऊंचाई मापने लगेंगे। बालकों में यह क्रीड़ा तभी चलती है जब उनमें कदों की समानता का भाव शब्द के ज्ञान से अधिक स्पष्ट हो जाता है

आकार के उपकरण

जब बालक भौमितिक आकृतियों के बीच का अंतर इन्द्रियों के द्वारा भली-भांति स्पष्टतापूर्वक जानने लगे तब अध्यापक को चाहिए कि वह उसे शब्द का ज्ञान देना शुरू कर दे। पहले शिक्षक को एक-दूसरे से नितांत विपरीत आकार की आकृतियां लेनी चाहिए, यथा-चौरस और गोल। तब उसे सेगुइन की त्रिपद विधि का अनुसरण करते हुए शब्द का ज्ञान कराना चाहिए। सामान्यतया सभी आकृतियों के नाम सिखाने की जरूरत नहीं है, लेकिन चौरस, गोल, लम्ब-चौरस, त्रिकोण, लम्ब-गोल आदि शब्दों की जानकारी तो जरूरी है। तब बच्चों को चौरस और लम्ब चौरस के बीच का अंतर सिखाया जाए। फ्रेम के एक खाने में चौरस और शेष पांच खानों में लम्ब चौरस जमाए जाते हैं। लम्ब चौरस की लम्बी भुजा चौरस की एक भुजा के बराबर होती है। इन दोनों के बुनियादी अंतर को इस प्रकार बताया जाना चाहिए।

यदि हम चौरस की चारों भुजाओं में से किसी भी तरफ से खाने में डालें तो वह खाने में आसानी से आ जाएगा, लेकिन यदि हम लम्बचौरस को आड़ा करेंगे तो वह खाने में हर्गिज नहीं आ पाएगा। इस तरह बालकों की समझ में आएगा कि लम्ब-चौरस कितना नाटा और चौड़ा होता है, जबकि चौरस के चारों कोण एक समान होते हैं। दोनों में मात्र छोटे-बड़े का अंतर होता है।

इसके पश्चात् बालकों को गोल, लम्ब-गोल तथा अंडाकार के बीच का अन्तर समझाया जाए। गोल को चाहे जिधर से फिरा दें, वह अपने खाने में आसानी से रखा जा सकता है। यदि लम्ब-गोल को थोड़ा टेढ़ा करके उसके खाने में रखना चाहें तो वह खाने में रखा नहीं जा सकेगा। यदि दिशा

पलट कर रखना चाहें तो आसानी से रख सकेंगे। पर अंडाकार तो आड़ा करने पर भी खाने में नहीं आता और दोनो सिरों को बदल दें तब भी नहीं आएगा। उसे तो मात्र एक ही तरह से खाने में रखा जा सकता है। इस अन्तर की तरफ बालक का ध्यान क्रिया के द्वारा खींचा जा सकता है।

बालक गोल, लम्ब-गोल अथवा अंडाकार के बीच का अंतर आसानी से समझ सकता है। वह यह भी समझ सकता है कि गोलाकार चाहे छोटा हो या बड़ा, अपने खाने में कैसे ही घुमा कर रखा जाए तो उसमें दाखिल हो सकता है, जबकि लंब-गोल या अंडाकार की बात निराली है। सभी बालकों को लंब-गोल या अंडाकार के बीच का अंतर बताया नहीं जाता। सिर्फ जिन्हें भौमितिक आकृतियों का शौक है और जो बारबार अंतर की बात पूछते हैं, सिर्फ उन्हीं को अंडाकार व लम्ब-गोल के बीच का अंतर समझाया जाता है। अधिकांशतः यह बात ऊपर की कक्षा के लिए छोड़ दी जाती है। अच्छा भी यही है कि बालक इस अंतर को उच्च श्रेणी में स्वयं समझें।

अनेक लोग ऐसा सोचते हैं कि इस तरह भौमितिक आकृतियों का परिचय कराने से हम बालकों पर ठेठ अल्पवय से बोझ ही डालेंगे। कुछ अन्य लोग कहते हैं कि जब हम भौमितिक आकृतियों का ही परिचय देना चाहते हैं तो घनाकृतियों का प्रयोग क्यों न करें? –स्थूल होने के कारण ये अधिक स्पष्ट तथा ज्ञानगम्य हैं। इस भ्रांति के संबंध में मुझे यहां दो बातें कहना समीचीन लगता है। भूमिति का शिक्षण भौमितिक आकृतियों के वर्गीकरण में निहित है। भौमितिक आकारों का अवलोकन करने में वर्गीकरण नहीं आता। जब हम फ्रॉबेल वाली पदार्थ-दर्शन पद्धति से बालक को भौमितिक आकृतियों की भुजाओं और कोणों का ज्ञान कराते हैं (यथा समकोण की चार भुजाएं होती हैं तथा एक-समान लंबाई की चार लकड़ियों द्वारा समकोण बनाया जा सकता है) तो हम सचमुच भूमिति का शिक्षण देते हैं; और मेरी मान्यता है कि यह शिक्षण छोटे बालकों के लिए बहुत ही बेवक्त का शिक्षण है। परंतु भौमितिक आकृतियों का अवलोकन (न कि शिक्षण) इस उम्र के बालकों के लिए (तीन से छह वर्ष की उम्र के लिए) बेवक्त की

चीज नहीं है। जिस टेबिल पर बैठकर बच्चे भोजन करते हैं उसकी सतह लम्ब-चौरस होती है। जिस रकाबी में वे भोजन करते हैं वह वर्तुलाकार होती है। जब हम बालक को रकाबी की वर्तुलाकार तथा टेबिल की लम्ब-चौरस सतह से परिचित होने देंगे तो हमें इस बात की शंका करने की कोई जरूरत नहीं कि बालक को उससे बेवक्त भूमिति का ज्ञान दिया जाएगा।

बालक को आकृतियों का अवलोकन कराये जाने से उसका ध्यान उन विभिन्न आकृतियों की तरफ आकृष्ट होगा। जिस प्रकार हम अन्य वस्तुओं के नाम बालक को सिखाते हैं वैसे ही इन आकारों के नाम भी बालक को सिखाएंगे। हमारे घर में जब बालक 'गोल रकाबी' आदि शब्द सुनते हैं तो हम उन्हें वर्तुल, चौरस, अंडाकार आदि शब्दों के नाम सिखाएं तो बुरा क्या है? घर में बालक माता-पिता के मुँह से चौकोर टेबिल, अंडाकार टेबिल आदि शब्द के बारे में बातें करते सुनते ही हैं और उनके कान में गोल, चौकोर, अंडाकार आदि शब्द पड़ते ही हैं तो इन शब्दों के अर्थ का शिक्षण स्थगित रखकर हम बालक के मन-मस्तिष्क में किसी प्रकार की भ्रांति क्यों चलने? क्यों न हम उनकी समझ और वाणी में स्पष्टता लाने की कोशिश करें? ऐसा आवश्यक शिक्षण देने में किसी प्रकार की जल्दबाजी करने की आवश्यकता नहीं है। जब हम बालक की सहज स्वाभाविक जरूरत की वजह से उसे पहले पढ़ाने का प्रबंध करते हैं तो ऐसा नहीं समझना चाहिए कि हम समय से पूर्व उसे परिपक्व बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। हमें पता है कि बालक जन्म से ही ज्ञान-पिपासु होता है। जब बड़े लोग बातें करते हैं तो नन्हा बालक मुंह ऊंचा किए उनके शब्दों और भावों को समझने की बहुत चेष्टा करता है, फिर भी उसे हमारी वाणी और उसका अर्थ बहुत कम समझ में आता है। इस अल्प समझ से बालक में भाषा-संस्कार पैदा करना अत्यंत कठिन काम है। इसके बजाय यदि हम बालक को समयानुसार बुद्धिमत्तापूर्ण भाषा-शिक्षण दें तो बालक कितने जटिल परिश्रम से उबर जाएगा! यही नहीं, उसे आनंद भी आएगा और उसकी ज्ञान-पिपासा भी शांत होगी। जब हम बालक को हमारी तथा दुनिया की वाणी का व्यवहार समझने की शक्ति-सामर्थ्य प्रदान करते हैं तो

बालक अपने मन का संतोष और आंतरिक आनंद व्यक्त करता है। यदि वह अशुद्ध वातावरण में होगा तो अशुद्ध वाणी का अनुकरण करेगा। इससे उसकी वाणी में अशुद्धि का दोष आएगा। यह दोष उसके भाषा ज्ञान के मार्ग में सदैव बाधक बनेगा। जब बालक शब्द ज्ञान लेने की इच्छा करे उस समय यदि शिक्षक उसे शुद्ध उच्चारणयुक्त शब्दों से परिचित कराता है तो बालक का श्रम और भाषा की अपूर्णता दूर हो जाती है। शिक्षक को बालक के चारों ओर भाषा का शुद्ध वातावरण निर्मित करना है। एक बार ऐसा शुद्ध वातावरण निर्मित हुआ नहीं कि बालक अपने-आप भाषा का शुद्ध श्वासोच्छ्वास लेगा और अपने भाषा ज्ञान को पूरा करेगा।

यहां हमें एक और भ्रांति को समझना है। ऐसी मान्यता है कि बालक जो करता है, उसे करने देने के लिए यदि हम उसे स्वतंत्र छोड़ दें तो वे अपने मन को पूरी तरह से विश्रांति दे देंगे अर्थात् वे महज पड़े रहेंगे। यदि ऐसा है तो जहां बालक को भाषा के बारे में किसी प्रकार की मदद नहीं मिलती, वहां के बालकों को भाषा-ज्ञान के बारे में अपरिचित ही रहना चाहिए। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। बालक स्वयं-स्फूर्ति से भले ही धीरे-धीरे, लेकिन शब्दों और उनके उच्चारण को पकड़ लेते हैं। बालक इस संसार का एक नया मुसाफिर होता है। अपने प्रवास में वह अनेक नई-नई वस्तुओं को देखता है, उन्हें समझता है। अपने आस-पास रहने वाले लोगों की अजानी वाणी को समझने का प्रयत्न करता है और अंततः उसे समझता है। अलबत्ता, उसे यह शक्ति हासिल करने के लिए इच्छापूर्वक प्रयत्न करना पड़ता है। यह सब तो बिना शिक्षक के वह अपने प्रयत्नों से ही सिद्ध कर लेता है। पर यदि बालक के प्रयत्नों को योग्य-शिक्षण के द्वारा मदद दी जाए तो उसे शक्ति भी कम खर्च करनी पड़ेगी और वह संसार का परिचय सहजता एवं गहन व्यापकता से प्राप्त कर सकेगा। इस महान् मानव-विचार-सृष्टि में प्रवेश करने वाले बाल-प्रवासियों के लिए हम तो मात्र मार्गदर्शक होंगे। हमें अपना दायित्व भली-भांति समझ लेना होगा। मार्गदर्शक के नाते हमसे निर्मल बुद्धि एवं संस्कारिता की पूरी अपेक्षा है। यदि हमारा प्रवासी कलाकृति में आनंद लेता है तो हमें उसके बारे में संक्षेप

में, लेकिन जीवंत परिचय देना है। निरर्थक वाणी-विलास का हमें त्याग कर देना चाहिए। मुसाफिर को कलाकृति से परिचित कराने के पश्चात् हमें तो दूर खड़े-खड़े जब तक बालक उसका अवलोकन करता है, तब तक प्रतीक्षा ही करनी है। बेशक, बालक निरर्थक वस्तुओं के अवलोकन में अपने समय व शक्ति का अपव्यय न करें अपितु जीवन की सुन्दर, सरल एवं महत्त्वपूर्ण वस्तुओं का अवलोकन करना सीखे–ऐसी दिशा में उसकी मनोवृत्ति को मोड़ना हमारा धर्म है। यदि हम अपना धर्म अच्छी तरह से निबाहेंगे तो बालक अपने प्रवास में आनंद व संतुष्टि प्राप्त कर सकेगा।

ऊपर कहा गया है कि कुछ लोगों के मतानुसार बालकों को सिर्फ भूमिति का सीधा-सीदा परिचय कराने की बजाय भूमिति के घन-पदार्थों का परिचय कराना ज्यादा अच्छा व आसान है। वस्तुतः सादी आकृति को देखने में आंख पर जो श्रम पड़ता है उसकी बजाय घनाकृति को देखने में विशेष श्रम पड़ता है। यह प्रश्न शरीर-विज्ञान से जुड़ा हुआ है। इसे हम एक तरफ रख दें तथा सिर्फ व्यावहारिक शैक्षिक दृष्टि से ही इस पर विचार करें। हम अपने आसपास जो पदार्थ हमेशा देखते हैं, उनका अधिकांश भाग हमारे द्वारा निर्मित साधारण भौमितिक आकृतियों से अधिक मिलता हुआ है। खिड़की की चौखट, चित्रों की फ्रेम, लकड़ी अथवा संगमरमर की टेबिल के ऊपरी तख्ते बेशक घन-पदार्थ हैं, पर इन सब में से प्रत्येक की मोटाई का कद अपेक्षाकृत बहुत कम हैं, जबकि शेष दो कद सादी सतह के आकार को स्पष्ट करते हैं।

खिड़की में, चित्र के फ्रेम में तथा टेबिल में हम सादा भौमितिक आकार देखते हैं जबकि वस्तुतः खिड़की लम्ब-चौरस है, चित्र का फ्रेम अण्डाकार है और टेबिल गोल। सादी सतह के निश्चित आकार वाली जो घनाकृति हमारी दृष्टि में आती है हमारी सादी भौमितिक आकृतियां उनकी स्पष्ट प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार भौमितिक आकृतियों के परिचय में आने वाला बालक भौमितिक सतह वाले पदार्थ को पहचान सकेगा, परन्तु भौमितिक घनाकृतियों को वह नहीं पहचान पाएगा। जब बालक टेबिल की सतह से भली-भांति परिचित हो जाएगा तथा उसे पता चल जाएगा कि यह सतह

लंब-चौरस आकार की है, तो काफी लम्बे समय के बाद उसे यह पता चलेगा कि टेबिल के पाये सूई या शंकु अथवा लंब नलाकार हैं।

हमारे आसपास की चीजों में शुद्ध भौमितिक घनाकृतियों के आकार होते भी नहीं। जो भी घनाकृति के पदार्थ दिखाई देते हैं उनमें आकारों का मिश्रण होता है। बालक एक बार के देखने में मिश्रित आकारों से भ्रांति भरी समग्र घनाकृति को देखने की जहमत नहीं करता, परन्तु उन घनाकृतियों में विद्यमान सादी आकृतियों को समानता स्थापित करने की दृष्टि से देखता है। बालक खिड़की-दरवाजों में व्यक्त सादी भौमितिक आकृतियों को तत्काल देख लेता है और विद्यालय में मिला सादी भौमितिक आकृति का उसका ज्ञान उसके लिए जादुई कुंजी साबित होता है।

डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं कि एक बार मैं प्राथमिक विद्यालय के एक बालक के साथ पेंसियन हिल पर घूम रही थी। उस बालक ने विद्यालय में भौमितिक आलेखन का ज्ञान अर्जित किया था और उसे सादी भौमितिक आकृतियों का वर्गीकृत ज्ञान था। जब हम उस पहाड़ी की चोटी पर पहुंचे तो हमने वहां से पूरा शहर, उसके मकान, मंदिर, विद्यालय, राजभवन, कारखाने, बाग-बगीचे आदि सब कुछ मानो धोबी ने धोकर कपड़े जमीन पर सुखाए हों, इस तरह जमीन पर लेटे हुए या लम्बे पड़े हुए देखे। उस दृश्य की तरफ मैंने अपना हाथ फैलाते हुए कहा : 'देखो मनुष्य ने जो कुछ निर्माण किया है, जो रचना की है वह भौमितिक आकारों के एक विशाल समूह के सिवाय और क्या है। तरह-तरह के लेटे हुए मकान लंब-चौरस, अंडाकार, त्रिकोण, अर्द्धवर्तुल के नमूनों के सिवाय और क्या बता रहे हैं?' इतने सारे मकान थे पर उनके द्वारा व्यक्त भौमितिक आकृतियों की संख्या सिर्फ सीमित थी। घटना के संबंध में मानवीय-योजना अत्यंत संकुचित दिखाई दे रही थी। डॉ. मोंटेसरी कहती हैं : 'यह देखकर मुझे तो मनुष्य की बुद्धि और उसकी सृजनशक्ति मर्यादित लगी। मुझे इस मर्यादा का सुन्दर भान हुआ। मकानों के बगल में ही एक बाग था, जिसकी प्राकृतिक कृतियों की अनंतता प्रकृति की विविधता एवं अमर्यादित सृजनशक्ति की

साक्षी दे रही थी। प्रकृति तथा मनुष्य का अंतर यहीं भली-भांति दिखाई दे रहा था। मेरे साथ जो विद्यार्थी था, उसने पहले कभी इस तरह मनुष्य एवं प्रकृति की रचना का अवलोकन नहीं किया था। उसने भौमितिक रेखाचित्रों के कोण एवं भुजाओं का अच्छा अध्ययन किया था, पर वह उनके उस पार कभी नहीं गया था। न ही कभी उस पार जाने का विचार उसके मन में पैदा हुआ था। बल्कि वह तो भूमिति के शिक्षण से ऊब चुका था। पहले तो वह मेरे कथन को समझ भी न पाया, मानो मेरे कथन को हंसी में टाल रहा हो। लेकिन जैसे-जैसे वह उस दृश्य को देखता गया वैसे-वैसे उसे नया आनंद आने लगा। आखिर में तो उसके चेहरे पर आनंद तथा विचार-चेतना के चित्र दिखाई देने लगे। धीरे-धीरे उसे मनुष्य की शुष्कता और प्रकृति की रसिकता का अंतर समझ में आने लगा। अंत में जहां एक मकान बन रहा था, उसके मजदूरों को देखकर वह बोल उठा! 'ओफ्फो! कितना उबाऊ काम है!' हम वहां से चले और उस नैसर्गिक स्थान में पहुंचे। विद्यार्थी बगीचे को शांत भाव से एकटक देखने लगा। धरती माता की गोद में उगे हुए सुंदर फूलों से लदे पौधों, वृक्षों और हवा मैदान को देखकर उसका हृदय स्मृति के उद्‌गारों से भर उठा। उसके मुँह से शब्द निकल पड़े, 'सचमुच, यह रमणीय है।' 'रमणीय' शब्द वह जानता ही होगा, पर आज उसका सार्थक उपयोग हुआ था। आज तो उसके हृदय में जन्मी सुंदरता की सच्ची भावना से इस शब्द का जन्म हुआ था, अतः रमणीय शब्द आज कुछ नई ही बात बता रहा था। इस अनुभव ने एक नई दिशा में मेरा ध्यान खींचा। एक नया विचार मन में उठा। इससे अनुभव ने मुझे भौमितिक आकार के अवलोकन तथा बाग की कुदरती सामग्री के सुपरिचय का महत्त्व समझाया। मुझे लगा कि मानव कल्पित ये भौमितिक आकृतियां तथा प्रकृति द्वारा निर्मित यह नैसर्गिक सृष्टि निश्चय ही बालक के बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शिक्षण के लिए बहुमूल्य उपकरण हैं। मेरी मान्यता है कि बालक भौमितिक आकारों का अवलोकन करना जाने, यही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे भौमितिक आकारों तथा कुदरत के बीच का अंतर समझाया

जाना चाहिए। इस प्रकार उसमें नैसर्गिक महत्ता के साथ-साथ मानवीय कृति की महत्ता का सम्मान पैदा होना चाहिए।

स्वतंत्र हस्त-आलेखन

मोंटेसरी शाला में बालक को एक सफेद कागज व पेंसिल देकर खुशी-खुशी मनपसंद चित्र बनाने को कहा जाता है। इस तरह बालक जो चित्र बनाते हैं वे मनोविज्ञान के अध्येताओं के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं। उन चित्रों से बालक की अवलोकन शक्ति को मापा जाता है, साथ ही यह पता लगता है कि उनकी वैयक्तिक रुचियां क्या-क्या हैं। इसी से इन चित्रों की महत्ता है। सामान्यतया शुरू-शुरू में चित्र अस्पष्ट और गोलमाल होते हैं। शिक्षक बालक से कहता है कि उसने जिसका चित्र बनाया है, उसका नाम नीचे लिख दे। इस प्रकार की जागरूकता बरतने से बालकों के चित्रों का व्यवस्थित संग्रह तैयार किया जा सकता है। धीरे-धीरे बालक के चित्र समझ में आने लगते हैं और उनके द्वारा उनकी अवलोकन-शक्ति कितनी विकसित हुई है, इस बात का पता लगता है, कई बार चित्रों में बारीकी से चित्रांकन किया जाता है। बच्चे कई-कई चीजें विस्तार से चित्रित करते हैं। वे अपनी इच्छा से प्रेरित होकर बिना किसी दबाव के चित्र बनाते हैं। इससे हम भली-भांति जान जाते हैं कि कौन-कौनसी वस्तुएं बालकों को अधिक आकर्षित करती हैं। इस स्वतंत्र हस्त-आरेखण द्वारा बालक आकारों की दुनिया में प्रविष्ट होता है और आकारों की दुनिया को व्यक्त करने लगता है। स्वतंत्र हस्त-आरेखण का आकारों से घनिष्ट संबंध है। यह चित्रकला के लिए प्राथमिक शर्त है। स्वतंत्र हस्तारेखण एक काम करते हैं, जबकि रेखाचित्र दूसरा काम करते हैं। स्वतंत्र हस्तारेखण आकार का परिचय कराते हैं, जबकि रेखाचित्र रंग का परिचय कराते हैं। जिस प्रकार हस्तारेखण द्वारा हम यह जान जाते हैं कि बालक का अपने आसपास की दुनिया के आकारों का कैसा ज्ञान है, उसी प्रकार रेखाचित्र में भरे हुए रंगों के द्वारा हम यह जान जाएंगे कि बालक के आसपास की दुनिया में विद्यमान रंगों का उसे कैसा ज्ञान है। बालक को कुछ रेखाचित्र भौमितिक

आकृतियों के, तो कुछ सामान्यतया घर, विद्यालय, बाग-बगीचे आदि के दिए जाने चाहिए, जिनसे वे सुपरिचित होते हैं। उनमें उन्हें रंग भरने को कहा जाए। वे अपनी पसंद के रंग भरें। इससे हमें यह पता लग जाएगा कि रंगों का उसका अवलोकन कैसा है।

माटी का काम

स्वतंत्र हस्तारेखण तथा रेखाचित्रों में रंग भरने से मिलता-जुलता सा काम है 'माटी का काम'। माटी के द्वारा बालक जो भी बनाना चाहे, उसे स्वतंत्रता देनी चाहिए। जो खिलौने या पदार्थ बालक को पसंद होते हैं, जिनकी उनके मस्तिष्क पर गहरी छाप अंकित होती है तथा जो खिलौने अत्यन्त जीवंतता से उनकी स्मरण-शक्ति पर छाये रहते हैं, बालक उन्हीं खिलौनों को मिट्टी के द्वारा बनाने का उद्यम करते हैं। बालकों को एक रकाबी में मिट्टी का लोंदा दिया जाता है। वे उनसे मनपसंद आकार बनाते हैं। उन तमाम आकृतियों को विद्यालय में सुरक्षित रखा जाता है। कई आकार अपनी बारीकियों में इतने पूर्ण होते हैं कि उन्हें देखकर आश्चर्य पैदा होता है। तो कुछ आकार वास्तविक पदार्थों के समान उन्हीं के कद के बनाए जाते हैं।

छोटे बच्चे अधिकांश में घर में देखी हुई, विशेष रूप से रसोई घर में देखी हुई वस्तुएं बनाते हैं यथा पानी के बर्तन, तपेली, देगची, तवा, चूल्हा, बेलन आदि। कभी-कभी पालना और उसमें सोये हुए बालक की रचना भी देखी जाती है। शुरू-शुरू वाले खिलौनों के आकार स्पष्ट रूप से पहचानने में नहीं आते। अतः बच्चों से पूछकर उन पर उनके नाम लिख लेने चाहिए। आगे चलकर वे उन्हें ऐसा रूप देने लगते हैं कि जिन्हें तुरन्त पहचाना जा सके। बालक भूमिति के घन आकार बनाने में रुचि लेते हैं। ये मिट्टी के आकार शिक्षक के लिए बहुत उपयोगी हैं। मिट्टी के काम द्वारा बालकों की विभिन्न रुचियां और उनके समान व्यक्त होते हैं। इससे शिक्षक उहें समझने और आगे बढ़ाने के लिए मिट्टी द्वारा बनाये जाने वाले खिलौनों में व्यक्त उनकी शक्ति का अच्छा उपयोग कर सकते हैं। मनोविज्ञान की

दृष्टि से भी ये खिलौने बहुमूल्य हैं। अलग-अलग उम्र में बालक कैसे-कैसे खिलौने बनाने में रुचि लेते हैं, इस बात का ज्ञान मनोविज्ञानवेत्ता के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। बालक कलाकृतियों के द्वारा शिक्षक ज्ञात कर सकता है कि कैसा समान रखा जाना उसके लिए लाभकारी होगा। जो बच्चे मिट्टी के रचनाकार्य द्वारा श्रेष्ठ अवलोकनकर्ता के गुण व्यक्त करते हैं वे खुद भी अपने आसपास की दुनिया का अवलोकन सुन्दर रीति से कर सकेंगे। मिट्टी के काम द्वारा बच्चों को सहज ही ऐसे क्षेत्र की तरफ ले जाया जा सकता है कि जहां उनके विभिन्न इन्द्रिय-विषय अनुभव एवं विचार अधिकाधिक स्पष्ट हो सकें। जो बालक स्वयं-लेखन तक शीघ्र पहुंच जाते हैं वे माटी के काम में भी कुशल होते हैं। जिन बालकों के अवलोकन में कच्चापन हो और जिनके आकारों में स्पष्टता नहीं होती, शिक्षक को ऐसे बालकों को उनके आसपास की दुनिया में ले जाना चाहिए और विभिन्न पदार्थों की तरफ उनका ध्यान खींचना चाहिए।

इन्द्रिय-विकास के द्वारा बालक में तरह-तरह की विशिष्ट क्षमताएं विकसित होती हैं—उपर्युक्त साधनों द्वारा उन्हें व्यापक वातावरण प्रदान किया जाता है।

भौमितिक आकृतियों का वर्गीकरण (भुजाए, कोण, मध्यबिन्दु तथा आधार)

भौमितिक आकृतियों के वर्गीकरण का शिक्षण छोटे बालकों को नहीं दिया जा सकता। डॉ. मोंटेसरी ने एक खेल शुरू करके उसके द्वारा बालकों को लंब-चौरस की पृथक्कृति का विचार समझाने का प्रयास किया है। खेल के लिए जो लम्ब-चौरस चुना गया है वह टेबिल के ऊपर वाला तख्ता है। बालक को इस टेबिल पर ही भोजन करने वालों के लिए प्रबंध करने को कहा जाता है। भोजन के उपकरण यथा—चम्मच, रकाबी, नमक, अचार, रूमाल आदि बालगृह में रखे जाते हैं। शिक्षक टेबिल की प्रत्येक लम्बी भुजा की तरफ दो-दो तथा प्रत्येक छोटी भुजा की तरफ एक-एक बैठने वाले का स्थान तय करके छह जनों के लिए प्रबंध कराता

है। कोई बालक अपने हाथ में चीजें उठाता है और शिक्षक के निर्देशानुसार टेबिल पर रखता जाता है। शिक्षक कहता है, यह अचार की रकाबी टेबिल के बीचों-बीच रखो। यह रूमाल टेबिल के एक कोने पर रखो। यह रकाबी छोटी भुजा के मध्य में रखो। तब शिक्षक बालक को दूर हटाकर टेबिल की ओर दृष्टिपात करते हुए पूछता है : 'इस कोने में क्या बाकी है ? इस पक्ष में दूसरे प्याले की जरूरत है ? दोनों छोटी भुजाओं की तरफ सभी कुछ आ गया ? चारों कोनों में कुछ कम तो नहीं पड़ता ? ये प्रश्न सुनकर बालक जरूरत की चीजें रख देता है, पर साथ ही साथ कोनों और भुजाओं आदि की तरफ उसका थोड़ा-थोड़ा ध्यान जाता है।

छह वर्ष से छोटे बालकों को इससे ज्यादा नहीं बताया जा सकता। अलबत्ता, उसे बोल-बताकर तथा बिठाकर तो उससे भी अधिक समझाया जा सकता है, पर उसका कोई मतलब नहीं निकलता।

रंग की इन्द्रिय के शिक्षण की व्यापकता : रंग की तख्तियों के द्वारा रंग की इन्द्रिय का विकास होता है, पर चित्र बनाने से उस विकास को व्यापकता मिलती है। अतः बालकों के लिए हमने विविध प्रकार के रेखाचित्र बनवाए हैं, जिनमें वे शुरुआत में पेंसिलों से रंग भरेंगे और बाद में ब्रुश से। बालकों को जैसे रंगों की जरूरत होती है वे रंग (पानी के) बना लेते हैं। रेखाचित्रों में पहले फूल, फिर पतंगे, फिर वृक्ष, फिर प्राणी, फिर घास, आकाश, मकान तथा मनुष्याकृति वाले चित्र आएं, तब प्रकृति के चित्र आएं–ऐसा एक क्रम रखा गया है। रंगों को लेकर बालकों के विकास का अता-पता उन रेखाचित्रों को देखने से लगाया जा सकता है। रंग-चयन के लिए बालक स्वतंत्र हैं। यदि वे तनों में लाल रंग भरें या गाय में हरा रंग भरें तो हमें समझ लेना चाहिए कि अभी उनकी अवलोकन-शक्ति में न्यूनता है, पर इस बारे में किया क्या जाए, यह चर्चा ऊपर के पृष्ठों में की जा चुकी है। इन रंगों तथा रंग की तख्तियों के द्वारा हम सहज की ज्ञात कर सकेंगे कि बालक का रंग-विकास कैसा हो पाया है। वे हल्के या मिलते-जुलते रंगों का चयन करते हैं या गहरे, परस्पर विरोधी रंग चुनते

हैं। यह देखकर उनके रंग-विवेक का पता लगाया जा सकता है। जब वे रेखाचित्र भरने बैठते हैं तब रंग चयन के लिए उन्हें रेखाचित्रों के रंगों का अनुसरण करना पड़ता है। यहां यह पता लग जाता है कि उन्होंने प्रकृति के रंगों का अवलोकन किया है। यही नहीं अपितु रेखाचित्र प्रकृति के अवलोकन को प्रेरित करते हैं। जो बालक रेखाओं की मर्यादा में रहते हुए रंग भर सकते हैं तथा सही-सच्चे रंग भर सकते हैं उन्हें और भी बारीक काम करने की छूट मिल जाती है। उन्हें घटना-चित्रों में रंग भरने का काम सौंपा जाता है। ये घटना-चित्र सहज, प्रभावी एवं कला के सच्चे नमूने जैसे होते हैं।

□

प्रकरण ग्यारहवाँ

लेखन-शिक्षण

1

शिक्षण में इटार्ड और सेगुईन मेडम मोंटेसरी के पूर्वगामी थे फिर भी मोंटेसरी को इन दोनों के द्वारा किए गए लेखन-वाचन के प्रयोगों में से बहुत कम मिला है। वे इटार्ड और सेगुइन द्वारा प्रयुक्त अक्षरज्ञान की पद्धति को वास्तविक नहीं मानतीं। इस सम्बन्ध में डॉ. मोंटेसरी की योजना मौलिक हैं–यदि यों कहें तो गलत न होगा। अलबत्ता, अपने पूर्ववर्तियों की त्रुटियों से उन्हें सीखने को काफी कुछ मिला था।

डॉ. मोंटेसरी अपने पूर्ववर्तियों द्वारा प्रस्तावित योजना के संबंध में कहती हैं कि उन की पद्धतियां शिक्षण-वस्तु को केन्द्र में रखकर बनाई गई हैं न कि शिक्षार्थी को केन्द्र में रखकर। उनका कहना है कि शिक्षण-विषय को वर्गीकृत करके बनाई गई इटार्ड-सेगुईन की पद्धतियां अत्यन्त भ्रामक हैं। फिर वे अत्यन्त तात्त्विक सिद्धान्तों पर रची हुई होने के कारण कठिन हैं। मोंटेसरी की मान्यता है कि शिक्षण का मार्ग कांटों से घिरा हुआ नहीं होना चाहिए अपितु गुलाबों से घिरा कोमल व सुगंधित होना चाहिए। वे कहती हैं कि असत्य अधिक बड़ा दिखता है, जबकि सत्य बहुत छोटा और क्षुद्र दिखाई देता है। इसके कारण अब तक इस दुनिया की कितनी शक्ति और समय का अपव्यय हुआ है। विशेष रूप से इटली में चलने वाली अक्षरज्ञान पद्धति का वर्णन करती हुई डॉ. मोंटेसरी पूछती हैं कि 'बालक से पहले खड़ी लकीरें खिंचवाने के पश्चात् उसे अक्षरज्ञान सिखाने का क्या प्रयोजन है? इसमें क्या रहस्य छिपा हुआ है? बालक को अत्यन्त दुखी होना पड़ता है और ज्ञान लेना कठिन हो जाता है। जिस प्रकार की सीधी लकीरें बालकों से खिंचवाई जाती हैं वैसी एक होशियार आदमी भी आसानी से नहीं खींच सकता। तब बालक की भला क्या बिसात?'

इसके उत्तर में किसी ने कहा था कि मूलाक्षरों के अनेक अक्षरों में सीधी लकीर आती है अतः यदि बालक को सीधी लकीर बनाना आ जाए तो अक्षर सीखना आसान हो जाता है।

डॉ. मोंटेसरी ने प्रत्युत्तर में कहा कि 'यह सही है कि अनेक अक्षरों में सीधी लकीर होती है, पर इस तरह तो अक्षरों में अनेक प्रकार की लकीरें हैं। यदि यही बात है तो बालकों से ही एक ही तरह की लकीर पक्की कराने (घुटाने) का क्या प्रयोजन है ? हमारी बातचीत में प्रयुक्त भाषा का यदि हम विवेचन करें तो उसमें से हमें व्याकरण के अनेक प्रकार के नियम हाथ लगेंगे। इसी तरह यदि हम अक्षरों का वर्गीकरण करें तो हमें अक्षरों में अनेक प्रकार की खड़ी, आड़ी, वक्र, वर्तुलाकार लकीरें देखने को मिलेंगी। जब हमने ऐसा कोई नियम नहीं बनाया है कि पहले व्याकरण सीखें और फिर भाषा बोलें, तो भला ऐसा कोई नियम क्यों स्वीकार करें कि पहले लकीरें खींचना सीखें और बाद में अक्षर लिखना सीखें ? व्याकरण के नियमों को जाने बिना ही हम भाषा बोल सकते हैं, वैसे ही अक्षरों के आकारों को अलग-अलग किए बिना भी हम अक्षर लिखना सिख सकते हैं। अगर हमारे लिए व्याकरण सीखने के पश्चात् ही बोलने की बाध्यता रही होती तो हमें बहुत दुख हुआ होता। अगर खगोलशास्त्र का अध्ययन किए बिना हमारे लिए तारों को देखने की मनाही होती तो हमारी कैसी दशा हुई होती ? इसी प्रकार जब हम अक्षर लेखन सिखाने से पहले बालक के लिए भौमितिक ज्ञान और लकीरों का अभ्यास करना जरूरी कर देंगे तो हम उन्हें बहुत दुखी बना देंगे। अक्षर सिखाने के लिए बालकों से अक्षरों के आकारों का अभ्यास कराना दयाजनक और दुखदाई है।'

इस सम्बन्ध में एक लम्बे अर्से से हो रहे अत्याचार को हमें हटाना होगा तथा जुल्म की ऐसी परंपरा और संस्कृति को त्यागना होगा। मनुष्य जाति ने किस तरह लिखना सीखा अर्थात् लेखन का मूल कहां निहित है, यह जानने की हमें कत्तई आवश्यकता नहीं है। पुरानी पद्धतियों ने लंबे समय से जो जड़ें चला रखी हैं, हमें उन्हें उखाड़ फेंकना होगा तथा सत्य का

पता लगाना होगा। सत्य को पाने के लिए हमें सत्य के जितना ही विशुद्ध एवं निष्कलंक बनने का प्रयत्न करना होगा। हमें परंपरा और भ्रांति की बेड़ियां तोड़नी हैं तथा निर्मल बुद्धि की किरणें निर्भयता से विकीर्ण करनी हैं।

डॉ. मोंटेसरी कहती हैं कि 'लेखन' का अभ्यास करने से हमें कुछ नहीं मिलेगा, हमें तो मात्र जो व्यक्ति लिख रहा हो, उसका अवलोकन करना-कराना है। यह देखना है कि लिखने के काम में वह व्यक्ति कैसी क्या प्रक्रिया अपनाता है। यदि हम इसी बात का विवेचन करें तो हमें लेखन की अच्छी पद्धति स्वतः प्राप्त हो जाएगी। हमें लिखने की स्थूल क्रिया का अभ्यास करना है न कि व्यक्ति जो लिख रहा है अर्थात् लेखन का। अभ्यास करने की विधि में विषय के महत्व से कई गुणा अधिक महत्व मनुष्य का है। अभी तक अनेक लोगों ने लेखन की अनेक विधियां ईजाद की हैं, वे सब लेखन का अभ्यास करके निकाली गई हैं, न कि लिखने वाले व्यक्ति का अध्ययन करके ईजाद की गई हैं। ऐसे में जो पद्धति लिखने वाले का अध्ययन करने के पश्चात् निर्मित की गई है वह पद्धति लेखन का अनुसरण करके निर्मित की गई पद्धति से अलग होगी। इस नूतन पद्धति को यदि हम कोई नाम देना चाहें तो 'लेखन की स्वयं-स्फुरित' पद्धति नाम दे सकते हैं।

डॉ. मोंटेसरी को लेखन-शिक्षण की यह नूतन पद्धति कैसे हाथ लगी, इसका संक्षिप्त इतिहास अत्यंत रोचक हैं। जब वे मूढ़ बालकों को शिक्षा देने का काम कर रही थीं तब एक मूढ़ बालिका उनके परिचय में आई थी। बालिका की उम्र ग्यारह वर्ष थी। वह स्वस्थ और बलवान थी। उसके हाथों के स्नायु सही थे, फिर भी उसे हाथ में सुई पकड़ कर उसका उपयोग करना नहीं आता था। कपड़े में सुई को ऊपर-नीचे कैसे ले जाएं कि बीच-बीच में धागा स्वतः छूटता चला जाए, यह बात उसकी समझ में कत्तई नहीं आ रही थी। मोंटेसेरी ने सोचा कि सिलाई की क्रिया में हाथ ऊंचा-नीचा करने की एक स्वतंत्र क्रिया है। यदि यह क्रिया बालिका को

सिलाई के साथ न सिखा कर अलग तरह से सिखाई जाए तो ज्योंही इस क्रिया पर उसका अधिकार हो जाएगा त्योंही सिलाई सीखने का काम भी उसके लिए आसान हो जाएगा। इस विचार से आकृष्ट होकर उन्होंने बालिका को फ्रॉबेल वाले चटाई बुनने के उपकरण दिए और उसे बुनने की तरीका बताया। बालिका को यह काम आसान लगा। चटाई की पट्टियों को वह आसानी से ऊपर नीचे डाल सकती थी और इस तरह उसे चटाई बुनना आ गया। चटाई बुनने के साथ ही साथ उसे सिलाई करना भी आ गया। यह एक चमत्कार था।

सीधे-सीधे सिलाई का काम किए बिना बालिका को सिलाई करना आ गया। इस घटना से डॉ. मोंटेसरी के मस्तिष्क में एक नया विचार आया। उन्होंने तय किया कि यदि किसी काम में कई प्रकार की क्रियाएं करनी पड़ें तो उस काम को एक साथ न सिखा कर, उसके बजाय उस काम की अलग-अलग क्रियाओं को पृथक करके अलग-अलग समय में सिखाया जाए तो वह काम बहुत आसान हो जाएगा। उन्हें विश्वास हो गया कि सीधे-सीधे बालकों को कोई काम देने के बजाय यदि उस काम की क्रियाओं को पूर्ण तैयारी के रूप में पूर्णता प्रदान की जाएगी तो इन क्रियाओं का शिक्षण मिल जाने के कारण बालकों में काम करने की शक्ति अपने आप फूट निकलेंगी।

मोंटेसरी लिखती हैं कि 'मुझे उपर्युक्त घटना से यह समझ में आया कि अगर पूर्व तैयारी का काम अच्छी तरह से कराया जाए तो लेखन का शिक्षण अत्यंत आसानी से दिया जा सकता है। मुझे यह नूतन विचार चमत्कारिक लगा। बहुत पसंद आया। बालिका को सिलाई करते देखकर यह विचार मेरे मस्तिष्क में आया था। मुझे अपने-आप पर गुस्सा आया कि यह आसान-सी बात पहले ही मेरे दिमाग में क्यों न आई!'

पर साधारण बातों पर हमारा ध्यान कम जाता है जबकि बड़ी-बड़ी तत्त्व-हीन बातों में हम अपना अधिक समय बरबाद कर देते हैं। छोटी बातों पर ध्यान देने के परिणाम स्वरूप संसार को सुशोभित करने वाली

तथा स्वर्ग जैसा बनाने वाली खोजें मानव जाति को सहज ही उपलब्ध हो चुकी हैं। महान खोजों का सम्पूर्ण इतिहास इस बात का साक्षी है। साधारण विषयों के सच्चे अवलोकन एवं निर्मल तर्कबद्ध विचार के कारण ही हम खोजों का सुफल भोग रहे हैं। सत्य सादा और सरल होता है। वह पैनी दृष्टि तथा निर्मल विचार को अपना दर्शन देता ही है। सर आइजेक न्यूटन ने साधारण-सी वस्तु के अवलोकन द्वारा ही महान खोज की थी। उनकी गुरुत्वाकर्षण की खोज फल के नीचे गिरने की एक मामूली-सी घटना की आभारी है। इसी तरह गेलीलियो, लागरेंज आदि खोजकर्ताओं ने साधारण घटनाओं के अवलोकन से ही बड़े-बड़े चमत्कार उत्पन्न किए हैं।

डॉ. मोंटेसरी ने सोचा कि इन्द्रिय-शिक्षण के क्रम में बालकों को भौमितिक आकृतियों की रेखाएं भली-भांति स्पर्श करनी आ गई हैं तो अब यदि वे अक्षरों की रेखाओं का भी उसी प्रकार स्पर्श करने लगें तो उन्हें अक्षर लिखने का ज्ञान आसानी से प्राप्त हो जाएगा। अब बालकों को भौमितिक आकारों के बजाय अन्य प्रकार के आकारों का स्पर्श करना था। ये आकार अक्षरों के थे पर उनके पीछे की क्रिया और रहस्य तो एक ही तरह के थे।

इस नए विचार से प्रेरित होकर डॉ. मोंटेसरी ने मूढ़ बालकों पर अक्षरज्ञान के नए-नए प्रयोग किए। यह इतिहास जाने बिना सामान्य बुद्धि वाले बालकों हेतु लेखन-वाचन की जो पद्धति उन्होंने खोजी, उसका रहस्य समझ में नहीं आ सकता। डॉ. मोंटेसरी के द्वारा लिखी गई बात को यहां उद्‌घृत करना समीचीन होगा।

'मैंने ये मूलाक्षर बनवाए। ये अक्षर लकड़ी से बने थे। उन पर रंग किया गया था। व्यंजन नीले रंग के और स्वर लाल रंग के थे। लकड़ी के इन मूलाक्षरों की एक ही जोड़ी मेरे पास थी। इनके साथ लकड़ी के मूलाक्षरों के कद के तथा उन्हीं रंगों में रंगे अक्षरों के ढेर सारे कार्ड थे। मूढ बालकों के द्वारा लकड़ी के मूलाक्षरों को कार्ड के मूलाक्षरों पर रखवाया जाता था। अक्षरों की साम्यता पहचानने के ये उपकरण थे।

'मैंने एक और किस्म के कार्ड बनवाए थे। उनमें प्रत्येक अक्षर के साथ एक-एक चित्र संजोया गया था। चित्र में चित्रित वस्तु का प्रथम अक्षर इस कार्ड का अक्षर था। इसका मकसद यह था कि चित्र का नाम बोलते ही अक्षर का नाम अपने-आप याद आ जाए और इस तरह अक्षर की संज्ञा का ज्ञान हो जाए, यथा 'कमल' के चित्र के पास 'क' निकालना। यह दूसरा साधन था। इसका उद्देश्य आकार के साथ संज्ञा का परिचय कराना था। जब मैं बालकों से लकड़ी के अक्षर कार्ड या गत्ते के अक्षरों पर रखवा रही थी, तब मैंने उन्हें पहले अक्षरों पर उंगली फेरने और फिर अक्षरों के कार्ड पर रखने का निर्देश दिया था। इस तरह मैंने बालकों से तरह-तरह का अभ्यास कराया। इसके परिणाम स्वरूप बिना लिखे ही लेखन में काम में ली जाने वाली निशानियों के आकार बनाने हेतु जिस शक्ति की जरूरत थी, वह उनमें आई। अभी बच्चे लेखन पर नहीं आए थे। उन्हें आकारों पर उंगली फेरना आ गया था। वे उंगली से अक्षर बना सकने की स्थिति में थे। परन्तु अभी उन्हें पेन या पेंसिल पकड़ना नहीं आता था।

'उस समय एक और विचार मेरे मस्तिष्क में पैदा हुआ। यह विचार मेरे दिमाग में पहले कभी आया न था। मैंने सोचा कि लेखन में हम दो अलग-अलग क्रियाएं करते हैं। एक क्रिया है अक्षरों में मरोड़ पैदा करना और दूसरी है लिखने के साधन को इच्छानुसार काम में लाना। छोटी-सी कलम को अच्छी तरह से पकड़ना और उसे सावधानी से उपयोग में लाना। इसमें स्नायुओं के नियंत्रण की खास तौर से जरूरत पड़ती है। यह क्रिया लेखन की क्रिया से भिन्न है, हालांकि तरह-तरह के मोड़-मरोड़ देने में यह क्रिया काम आती है। जब मैं मूढ़ बालकों से अक्षरों पर उंगलियां फिरवा रही थी, तब मैं उनसे अक्षरों के आकारों का स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा परिचय करवा रही थी। उस क्रिया में उन्हें पेन पकड़ने से स्नायुओं को काम में लाने के जो संस्कार मिलते थे, वे नहीं मिल रहे थे। इसके लिए मैंने इस दूसरी आवश्यकता के इस्तेमाल की बात सोची। बालक पहले एक उंगली से अक्षर का स्पर्श करते थे। इसके बजाय मैंने उन्हें दो उंगलियों से स्पर्श करने की बात कही। तदुपरांत उस क्रिया के साथ ही अक्षरों पर लकड़ी

फेरने का निर्देश दिया। इस क्रिया के द्वारा बालकों की पेन पकड़कर लिखने की क्रिया का अभ्यास होता था। बस एक कठिनाई थी, उंगली या लकड़ी को अक्षरों पर फेरते समय उंगली बार-बार नीचे खिसक जाती थी; आंखें उसे देखकर उन्हें कोई मदद देने की स्थिति में नहीं थीं। उपकरण ऐसे नहीं थे कि स्वतः भूल सुधर सके। इससे मैंने नालीदार अक्षर बनवाये और उनमें लकड़ी फेरना बताया ताकि उनकी लकड़ी टेढ़ी-मेढ़ी न जा सके और लिखने का नियंत्रण बराबर संस्कारित होता रहे। पर यह काम बहुत खर्चीला रहा। इस कारण इस प्रयोग को छोड़ देना पड़ा। ऐसी स्थिति में ऊपर लिखे अनुसार नीले रंग के व्यंजनों और लाल रंग के स्वरों के लकड़ी के अक्षरों और सचित्र अक्षर-कार्डों के द्वारा बालकों को संज्ञाओं का ज्ञान कराया गया। अक्षर का उच्चारण करके जिस कार्ड के ऊपर अक्षर के साथ चित्र बनाया गया था, वह कार्ड बता कर 'क क, क, कमल; मुझे क दो' यों बोलते हुए बालकों को क का उच्चारण सिखाया और इसी विधि से चित्रों के द्वारा मूढ़ बालकों को अक्षरों के नाम भी सिखाए।

'इसके परिणाम स्वरूप बालकों को अक्षर लिखना आ गया। उन्हें उनकी संज्ञा भी आ गई।

'मैंने जैसा अनुमान लगाया था, उससे कहीं पहले ही बालकों को लिखना आ गया। लिखना आ गया का आशय यह है कि भले ही वे अक्षरों को कभी-कभी न भी पहचान पाते, पर पूर्ण वर्णमाला लिख देते थे। लिखने का काम उनके लिए पढ़ने की अपेक्षा अधिक आसान था। सामान्य बुद्धि वाले बालकों के स्नायु बचपन में अधिक विकसित होते हैं अतः वे उनकी मदद से लेखन की स्थूल क्रिया जल्दी ही ग्रहण कर लेते हैं। पढ़ना सिखाने का काम इतना आसान नहीं है। इसमें बालक का बौद्धिक-विकास अधिक होना चाहिए क्योंकि वाचन-कार्य में संज्ञा का अर्थ करना होता है। जब तक संज्ञा का अर्थ समझ में न आए और शब्द पर बल देकर वाचन करना न आए तब तक शब्द का अर्थ समझ में नहीं आता। यहां अर्थ वाले वाचन को वाचन (सार्थक वाचन) कहा गया है। नहीं तो, जब से बालक

अक्षरों के नाम जानने लगते हैं, तभी से वाचन शुरू हो जाता है। पर इसे वाचन नहीं कहा जा सकता। लेखन में तो ध्वनि को संज्ञा का रूप देना होता है। और कलम या पेन चलाना होता है, जो भी बालक को अच्छा लगे। जिस प्रकार छोटे बच्चों में बोलना स्वाभाविक रूप से सरलतापूर्वक खिल जाता है उसी प्रकार उनमें लेखन भी विकसित हो जाता है। वाचन में लिखित चिह्नों में जो विचार विद्यमान होते हैं उनका अर्थ बताना होता है, जिसमें पैनी बुद्धि के विकास की जरूरत पड़ती है। लेखन–ऊपर वर्णित अर्थ में–पहले प्राप्त हो जाता है, जबकि वाचन उसके उपरांत सिद्ध होता है।'

उपर्युक्त सारी बातें मूढ़ बालकों के बारे में लिखी गई हैं। डॉ. मोंटेसरी ने अमूढ़ या सामान्य बुद्धि वाले बालकों के लिए भी लेखन-वाचन के प्रयोग किए थे और उनसे सिद्धांत निर्मित किए थे। उनके शब्दों में इस प्रकार वर्णन हुआ है।

'अमूढ़ या सामान्य बुद्धि वाले बालकों पर मैंने नवंबर 1907 से लेखन के प्रयोग शुरू किए।

'सां लोरेंजा में संचालित दो बालगृहों में अभी तक इन्द्रिय-शिक्षण तथा दैनिक कार्यक्रम चलता था। मैंने उन्हें लेखन पर अभी लिया नहीं था क्योंकि मुझे वहम था कि लेखन-वाचन बड़ी उम्र में सिखाया जाना चाहिए, अर्थात् छह वर्ष से पहले तक तो हर्गिज नहीं सिखाया जाना चाहिए।

'परन्तु बालकों का इन्द्रिय-विकास एवं बौद्धिक-विकास इतना अच्छा हो चुका था कि वे कुछ अधिक मांग कर रहे थे–ऐसा स्पष्ट दिखाई दे रहा था। उनको अपने आप कपड़े पहनना-उतारना आ गया था, स्वयं नहाना आ गया था। साथ ही साथ उन्हें झाड़ू-बुहारी करना, चीजें पौंछना, कमरे की साफ-सफाई और सजावट करना, सन्दूकें खोलना, बंद करना और तरह-तरह के ताले खोलना व बंद करना अपने-आप आ गया था। उन्हें नन्हें पौधों को संभालना, चीजों का अवलोकन करना तथा हाथों के स्पर्श द्वारा वस्तुओं को परखना आ गया था। कई बच्चे मेरे पास खुले मन

से दौड़ते हुए आए और कहने लगे : 'हमको लिखना-पढ़ना सिखाइए न!' मैंने उन्हें इन्कार किया, फिर भी कई बच्चे विद्यालय में आकर कहते–'देखिए, हमें ओ (O) लिखना आ गया।'

'फिर तो कई माताओं ने भी आकर कहा : 'यहां आपने बच्चों को और-और बातों का ज्ञान बहुत अच्छी तरह से कराया है। वे कई बातें बहुत आसानी से सीख गए हैं। अब आप इनको लिखना-पढ़ना सिखा दीजिए ताकि प्राथमिक विद्यालय में उन्हें अधिक मेहनत न पड़े।' जब माताओं ने मेरे प्रति अपना विश्वास व्यक्त किया कि बच्चे बिना श्रम के लिखना-पढ़ना सीख जाएंगे, और बच्चे तो पढ़ने का आग्रह कर ही रहे थे, तब मेरे मन पर इन बातों का गहरा प्रभाव पड़ा। मैंने उन्हें लिखना-पढ़ना सिखाने का निश्चय किया। मूढ़ बालकों को सिखाने के लिए मैंने जिस तरह के अक्षर बनवाए थे, वैसे अक्षर बनवाने में बहुत मेहनत की, पर वह निष्फल रही। आखिरकार मैंने गत्तों से अक्षर कटवाए और उन पर लाल-नीले रंग लगा दिए। स्पर्श के लिए मैंने रेजमाल के कागज पर अक्षर कटवाए और उन्हें चिकने कागज-मढ़े गत्तों पर गौंद से चिपका दिया। पहले वाले सुन्दर अक्षरों की बजाय मुझे ऐसे अक्षर बनवाने पड़े थे, इसका मुझे रंज था, लेकिन कुछ समय में ही मुझे समझ में आ गया कि ये अक्षर अधिक अच्छे थे, सादे और सस्ते थे। मेरे पास पैसे नहीं थे, यह ठीक ही हुआ। अगर पैसे होते तो मैं पहले वाले सुन्दर व निरुपयोगी अक्षर खरीदने-बनवाने की दिशा में दौड़ पड़ती। हम पुरानी वस्तुओं को प्राप्त करने में रुचि लेते हैं क्योंकि नयी वस्तुओं को ग्रहण नहीं कर सकते। उन्हें समझ नहीं सकते। हमारा स्वभाव ही ऐसा है कि जो प्राचीन-पुरातन है, वही हमें प्रिय लगता है, जो शान-शौकत वाला है वही हमें अनुकूल पड़ता है और जो भावी विकास का बीज है उसे हम पहचान नहीं पाते। मानो उसमें उसकी प्रकृतिगत सादगी ही बाधक लगती है। मुझे लगा कि कागज के अक्षर ज्यादा आसानी से तथा अधिक परिमाण में बन सकेंगे और अनेक बालक उन्हें एक-साथ काम में ले सकेंगे। वे अक्षर शब्द-संयोजन में भी काम आएंगे। लकड़ी वाले अक्षरों पर बालकों की उंगलियां व ध्यान इधर-उधर चला जाता था, अतः उनके अभ्यास में बाधा पड़ती थी। रेजमाल

वाले कागजों से इस कठिनाई का अंत हो गया। मुझे अक्षरों वाले उपकरणों में ऐसी शक्ति की अपेक्षा थी कि बालकों की भूल अपने आप सुधर जाए। यह शक्ति मैंने उन नए बनाए हुए अक्षरों में पाई। आंख ही नहीं, स्पर्श भी उंगली को अक्षरों पर रखने को बाध्य करता था। इस तरह बालक का हाथ सावधानी से बिना भूले अक्षरों पर ही फिरता था।

'जब मैं और मेरी सहयोगी शिक्षिका अक्षर बनाने में लगे थे तब मुझे भावी पद्धति का सम्पूर्ण मानसिक दर्शन हुआ। वह नई पद्धति इतनी साधारण थी कि आज तक मुझे इस पर खयाल ही नहीं आया, इसके लिए मुझे हंसना आता है।'

इस प्रकार डॉ. मोंटेसरी ने लेखन-पद्धति में नया प्रयोग किया, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने विश्व को निम्न प्रकरण प्रदान किया।

2
लेखन के प्रबोधक साहित्य का वर्णन तथा उपयोग
प्रथम श्रेणी

साधन (1) लोहे की बनी आठ भूमितिक आकृतियां और उनके फ्रेम (2) कागज, रेखाचित्र तथा दस रंगीन पेंसिलें।

ये आकृतियां लकड़ी की भौमितिक आकृतियों जैसी ही मोटी होनी चाहिए। उनका रंग नीला और फ्रेमों का रंग गुलाबी होना चाहिए। उन्हें एक ढलावदार लकड़ी के स्टेंड पर रखा जाना चाहिए। ये आठों आकृतियां एक-दूसरे से अलग-अलग होनी चाहिए।

साधनों के उपयोग की विधि : पहले ऊपर लिखी गई आठ आकृतियों को ढलावदार डेस्क पर बालक के सामने रखा जाए और उनकी तरफ उनका ध्यान खींचा जाए।

तदुपरांत बालक को सफेद कागज का टुकड़ा और रंगीन दस पेंसिलों की डिब्बी दी जाए। वह अपने पास आकर्षक रीति से जमाकर

रखी गई भौमितिक आकृतियों में से कोई एक पसंद करेगा। आकृति त्रिकोण की हो सकती है, चौकोर या गोलाकार हो सकती है। बालक उस आकृति को कागज के टुकड़े पर रखेगा, एक हाथ से उसे दबाएगा और दूसरे हाथ में रंगीन पेंसिल लेकर आकृति के फ्रेम के भीतरी किनारे के पास-पास फेरेगा। ज्योंही वह आकृति को उठाएगा, त्योंही उसे त्रिकोण, चौकोर या गोलाकार की रंगीन भौमितिक आकृति खिंची हुई देखने को मिलेगी। उसे आश्चर्य भी होगा और आनंद भी आएगा। हालांकि उसने कोई नई क्रिया नहीं की, पर जो भी क्रिया की, उसका परिणाम नया ही आया। इस क्रिया में बालक ने जो कुछ किया, वह एक तरह से पहले कर ही चुका था। जब वह पहले लकड़ी की बनी भौमितिक आकृतियों के किनारे-किनारे अपनी उंगली फेरता था, तब वह एक प्रकार से आकृति को (अपने मन में) बना ही रहा था। इस बार यहां पर वह उंगली के बजाय पेंसिल से आकृति बना रहा था, बस इतना ही फर्क था। इसका यह अर्थ हुआ कि जब वह पहले उंगली फेर रहा था, तब कोई स्थूल परिणाम नजर नहीं आ रहा था, जबकि इस बार आकृति के किनारे-किनारे पेंसिल फेर कर वह स्थूल चित्र निर्मित कर रहा था।

यह विधि बालक को अच्छी लगती है और आसान भी। जब वह आकृति खींचना सीख जाता है तो एक आकृति पर फिर से दूसरे रंग की पेंसिल चला कर एक और आकृति बनाता है। इस तरह उसे एक जैसी दोहरी आकृतियां नजर आती हैं और उसे आनंद आता है। उसकी रंग-दृष्टि एवं भौमितिक दृष्टि को तृप्ति मिलती है। इस क्रिया की उस पहले वाली क्रिया से समानता स्थापित की जा सकती है जब बालक गत्ते की आकृति पर लकड़ी की आकृति रखता था और उसके किनारे-किनारे उंगली फेरता था। जबकि यहां बालक लोहे की आकृति के चारों ओर रंगीन पेंसिल से खींचकर आकार उभारता है। हालांकि बाहर के साधनों में तथा दिखाई देने वाले परिणाम में अंतर है, लेकिन तत्त्व तो एक ही है। यों कहा जा सकता है कि बालक स्थूल क्रिया से सूक्ष्म क्रिया की तरफ गया।

कदाचित आठ भौमितिक आकृतियों को पास-पास रखने तथा दस रंगीन पेंसिलों को काम में लेने की यह क्रिया परेशानी पैदा करने वाली या निरर्थक लगे, पर इन सभी चीजों का अपना पर्याप्त महत्व है। यदि इन आठों आकृतियों को उपर्युक्त रीति से जमा करके न रखा जाए और बालकों में वितरित कर दी जाएं तो प्रत्येक बालक को इनकी विविधता से मिलने वाला लाभ मिल ही नहीं सकता। जब वे आकृतियां उसके पास पड़ी रहेंगी तो एक के बाद एक प्रत्येक का लाभ लेकर बालक प्रत्येक आकृति का आठ-आठ बार उपयोग करेगा और चित्र बनाएगा। आकृतियों की विविधता से बालक को पुनरावर्तन में मजा आता है। फिर उसे दस रंगों की पेंसिलें देने से वह तरह-तरह के रंगों से आकृतियां खींचता है। रंग-शिक्षण की वजह से वह आकृष्ट होता है और बार-बार आकृतियां बनाने से भी ऊबता-उकताता नहीं।

ऊपर जो क्रिया बताई गई है वह बालक को तभी बतानी चाहिए जब शिक्षक को लगे कि बालक सहज और विषयाभिमुख हुआ है। बताते समय यह दिखाया जाना चाहिए कि प्रत्येक क्रिया अलग-अलग है। इन्हें अत्यंत धीरज और शांति के साथ करके बताना चाहिए। फ्रेम को उठाना एक क्रिया है, कागज पर रखना दूसरी क्रिया है। फ्रेम को बदलना तीसरी क्रिया है, पेंसिल पकड़ना चौथी क्रिया है। इस प्रकार प्रत्येक क्रिया को अलग से बताया जाना चाहिए।

जब बालक दोहरी भौमितिक आकृतियां उभारने लगता है तो उसके भीतर भौमितिक आकार की तात्त्विक कल्पना जन्म लेने लगती है। फ्रेम का आकार अलग होता है, आकृति का रूप अलग होता है, फिर भी दोनों एक ही तरह की आकृति बनाते हैं। इससे बालक यह बात समझ जाता है कि भौमितिक आकृति की सूक्ष्मता उसकी स्थूलाकृति से किस तरह अलग है तथा लकीर खींचने से आकृति किस तरह बन जाती है। प्रत्यक्षतः अलग लगने वाली आकृतियों के द्वारा एक ही तरह की आकृति किस प्रकार बन जाती है, इस पर विचार करने में बालक को आनंद मिलता है।

अब बालक आगे बढ़ने लगता है। लेखन-कार्य की तैयारी इसी समय शुरू होती है। बालक जिन स्नायुओं के द्वारा कलम उठाकर लिखने का काम करता है उन स्नायुओं को कसने की क्रिया करने लगता है। वह मनपसंद पेंसिल उठाता है और जिस तरह हम लिखने के लिए पेन हाथ में पकड़ते है उसी तरह पेंसिल पकड़कर दोहरी आकृति के भीतर आडी-तिरछी रेखाएं भरने लगता है और पूरी आकृति को भर देता है।

इस अवसर पर हमें बालक को यह बता देना चाहिए कि वह आकृति से बाहर न जाए। आकृति की मर्यादा की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करने की जरूरत है ताकि वह समझ सके कि रेखाओं की परिसीमा के अन्दर आकृति समाई हुई है।

जब बालक एक बार यह काम शुरू कर देता है तो वह लम्बे समय तक इसे छोड़ता नहीं। उसे आकृतियां खींचने और उनमें रेखाएं भरने के काम में न ऊब होती है, न थकान आती है। कुछ ही अर्से में बालक ढेर सारे चित्रों का मालिक बन जाता है और चित्रों को संभाल कर टेबिल के खाने में रख देता है। सामान्यतया इस एक ही आकृति में लकीरें भरते-भरते पुरानी पद्धति की कितनी की कापियां भर जाती हैं। इसका कारण यह है कि कापियों में लकीरें भरने में जिस सख्त मर्यादा तथा दिशा का अनुसरण करना पड़ता है वह उसे अनुसरण नहीं करनी पड़ती। यहां तो हाथ को जिस अभ्यास की जरूरत है, वह अभ्यास आकृति में लकीरें भर कर प्राप्त करता है, साथ ही साथ उसे रंग भरना आकर्षक लगता है, अतः वह इस काम को छोड़ता तक नहीं।

जब बालक आकृति भरने का काम शुरू करे तब शिक्षकों को उसे यह बताना चाहिए कि सीधी, समानांतर, पास-पास तथा सीमा-रेखा के अन्दर-अन्दर रेखाएं भरते हुए आकृति को कैसे भरना चाहिए। शुरू-शुरू में बालक आकृति की सीमारेखा से बाहर तक रेखाएं निकाल देगा। उसकी लकीरें टेढ़ी-तिरछी या छोटी-मोटी भी होंगी। या तो लकीरें बहुत लम्बी होंगी या छोटी। पर धीरे-धीरे सारी रेखाएं आकृति से बाहर ही आने लगेंगी। रेखाओं

की संख्या बढ़ने लगेगी और वे पास-पास समानांतर होती जाएंगी। तब वह रंग-बिरंगी पेंसिलों की मदद से आकृति को आकर्षक बनाने लगेगा। कई बार बच्चे इन आकृतियों को लोहे की भौमितिक आकृतियों जैसी ही रंगीन बनाते हैं। उदाहरण के बतौर एकाध आकृति में वह बराबर नीला रंग भरेगा। उसके चारों ओर फ्रेम वाला गुलाबी रंग भरेगा और आकृति के मध्यबिन्दु में नारंगी रंग की पकड़ने की घुंडी बनाएगा। जब बालक आकृति बनाने में इतनी शक्ति लगाने लगता है तो हमें समझ लेना चाहिए कि उसके स्नायुओं का अच्छा अभ्यास हो चुका है। यहां लिखने की क्रिया में आने वाला काम अपनी पूर्णता प्राप्त करता है।

बालक को इस प्रकार के काम में अधिक आनंद एवं वैविध्य देने की दृष्टि से तरह-तरह के रेखाचित्रों वाली पुस्तिका उपलब्ध कराई जाती है। पुस्तिका में भौमितिक रेखाचित्र, पतिंगे, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी-पहाड़ एवं आकाश आदि होते हैं। इससे बालक को अपनी विकसित रंग-क्षमता का सुन्दरता से आनंद लेने का पूरा अवसर मिलता है। इसी से बालक बार-बार ऐसी आकृतियां भरता है और अपना हाथ जमाता है। रंग भरने का काम होने से रंग की कोमलता के साथ हाथ की कोमलता भी जमती जाती है। निश्चय ही बालक रंग-चयन के लिए स्वतन्त्र होता है। हमें उसके रंग-सौंदर्य की जानकारी भी मिलती है। इस समय हम यह भी ज्ञात कर सकते हैं कि बालक की रंग विषयक इन्द्रिय का विकास जैसे-तैसे उसके लेखन के काम में किस प्रकार मददगार हो सकता है। रंग की वजह से लकीरें भरने का काम कितना सरस हो जाता है, यह जाहिर है। जिन चित्रों में बालक को रंग भरना होता है, उनमें उसे अनेक दिशाओं में रेखाएं खींचनी होती है। वह लंबी, छोटी, खड़ी, आडी, गोल, सीधी तरह-तरह की रेखाएं बनाने में सक्षम हो जाता है। इस क्षमता के कारण वह छोटे-बड़े अक्षरों तथा मोड़ वाले घुमावदार अक्षरों को आसानी से बना सकता है। अब अगर उसे पट्टी पर दो चौड़ी रेखाओं के बीच लिखने का अभ्यास कराएं या किसी अभ्यास पुस्तिका की दो पंक्तियों के बीच अक्षर लिखने का अभ्यास कराएँ, तो वह अत्यंत सफाई से लिख लेगा।

बालकों की कलम से लिखने की दक्षता इतनी अच्छी हो जाती है कि जब वे लिखने लगते हैं तो यों लिखते हैं मानो कोई बड़ा आदमी लिखता हो।

डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं कि 'मैं नहीं मानती कि किसी अन्य साधन द्वारा इतने कम समय में इतनी सफलता से लिखने का अभ्यास कराया जा सकता है। फिर बालक तो बड़े ही आनंद और मजे से यह सारा काम करता है। जब मैं उस बात का खयाल करती हूं कि मूढ़ बालकों को अक्षरों पर लकड़ी फिरा कर हाथों को नियंत्रित करने का किस तरह अभ्यास कराती थी – और जब उसे इस नई पद्धति की तुलना में रखती हूं तो मुझे लगता है कि वह पद्धति कितनी क्षुद्र तथा निष्फल थी।

जब बालक लिखना शुरू कर देता है, तब भी वह रेखाएं भरने का काम तो जारी ही रखता है, क्योंकि वह तरह-तरह की विधियों का प्रयोग करके रंग भरने में आनंद लेता है। रंग भरने में लकीरें तो बनानी ही पड़ती हैं। फिर तो दिन प्रतिदिन बालक रंग भरने में तथा आकृतियां बनाने में इतनी सुन्दरता से लीन हो जाता है कि उसके चित्र सहेज कर रखने तथा गर्व करने लायक बन जाते हैं। लिखने की पूर्व तैयारी में से यह एक अवांतर लाभ कोई कम कीमती नहीं है। इस पूर्व तैयारी से लिखने के काम की तैयारी ही नहीं होती अपितु उसमें तो लेखन की पूर्णता भी आ जाती है। जो वस्तु प्रेरक है वही वस्तु सम्पूर्णता लेने जैसी बन जाती है। बार-बार लिखने से न अक्षर सुडौल होते, न कलम पर नियंत्रण आता; पर बार-बार आकृतियां भरने से अक्षर लिखना आ जाता है। वहां से लेकर सुन्दर से सुन्दर अक्षर बनाने तक की एक ही रीति है। डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं : 'इस तरह मेरे बच्चे लिखे बिना ही लिखने के काम में पूर्णता प्राप्त करते हैं।'

3

द्वितीय श्रेणी

अक्षरों के मोड़ सीखने की क्रिया : लेखन के काम में आने वाली कलम को पकड़ने की क्रिया किस तरह परिपक्व की जा सकती है, इसके बारे

में ऊपर लिखा ही जा चुका है। अब अक्षरों को किस तरह लिखा जाए अर्थात् उनके मोड़ किस तरह उभारे जाएं, इस पर चर्चा की जा रही है।

जिस समय बालक रेखाएं खींचकर आकृतियां भरने का काम शुरू करता है तभी से वह अक्षर सीखने के योग्य बन जाता है और अक्षर सीखने की शुरूआत करता है। ऐसे में एक तरफ ऐसी रेखाएं बनाने का और दूसरी तरफ अक्षर सीखने का काम चलना चाहिए।

अक्षर सिखाने के साधन : 1. अक्षरों के अलग-अलग सांचे 2. अक्षर-समूह के मानचित्र।

अक्षरों के अलग-अलग सांचे कार्ड बोर्ड के बनाए जाएं। सांचों का आकार भूमिति की आकृति वाले फ्रेम जितना होना चाहिए। अक्षरों के सांचों पर सफेद चिकना कागज लगाकर उस पर रेजमाल को कागज से काटकर मूलाक्षर चिपकाए जाएं। रेजमाल जीरो अथवा आधे नम्बर का लें। रंग काला हो। अधिक खुरदरे कागज पर बालक हाथ फेरना पसंद नहीं करता। इससे अभ्यास का काम अटक जाता है। व्यंजन अक्षरों में ङ, ञ, क्ष, ज्ञ तथा स्वरों में ऋ, ॠ अं आदि को शुरूआत में नहीं सिखाना चाहिए, अतः इनके कार्ड न बनाएं तो चलेगा।

एक जैसे घुमाव वाले मिलते-जुलते अक्षर एक ही गत्ते पर चिपकाएं तथा वर्णमाला के गत्ते तैयार करें। समानता के वर्ग निम्न प्रकार से हो सकते हैं:

1. ट ठ ड ढ ळ
2. र श स च
3. न भ म त
4. प ष थ य
5. ड ह क फ
6. ख अ ब
7. द छ घ ध ई
8. ग उ ण झ व ल ज

अक्षर सिखाने की विधि : (Association of the visual and mascular tectile sensation with the letter sound) जिस बालक को अक्षरज्ञान देना हो, उसे शिक्षक अपने पास बुलाए, उसके हाथ धुलाए तथा मोटे ट्वाल से पौंछे। तब बालक को आसन पर या कुर्सी पर बिठाए और मूलाक्षरों में से कोई दो अक्षर चुनकर अपने हाथ में ले। मान लें कि शिक्षक त और प दो अक्षर लेता है। उसे पहले त अक्षर बालक को बताना चाहिए, उसका नाम बोलकर बताना चाहिए तथा उस पर लेखन का अभ्यास कराना चाहिए। अभ्यास कैसे किया जाए यह शिक्षक स्वयं करके बताए। अक्षर के ऊपर धीमे-धीमे उंगली फेरकर उसे बालक को अक्षर के प्रत्येक भाग से परिचित कराना चाहिए। यदि अध्यापक उचित समझे तो बालक की उंगली पकड़ कर उस अक्षर के ऊपर-ऊपर यों फिराए मानो वह उसे लिखने का अभ्यास कर रहा हो। खुरदरे और चिकने अक्षरों पर उंगली फेरते समय जिस तरह बालक हाथ को ऊपर रखते हुए धीरे-धीरे, हल्के-हल्के उंगली फेरता था, वैसे ही यहां भी वह हल्के-हल्के ऊपर हाथ फेरे। जिस तरह लकड़ी की भौमितिक आकृतियों के किनारों पर बालक उंगली फेरता था वैसे ही उसे अक्षरों के ऊपर उंगली फेरनी चाहिए। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि बालक अपना हाथ अधर रखे तथा हल्के से अक्षर के मोड़-मरोड़ का बराबर स्पर्श करते हुए उंगली फेरे। उंगलियों में तर्जनी या मध्यमा काम में ली जाए। पूर्व के अभ्यास द्वारा यदि बालक को स्पर्श करने की आदत नहीं होती तो वह अक्षरों को घोंटने का काम गौर से तथा आनंद लेते हुए नहीं कर सकता। हमारे अवलोकन के द्वारा बालक को यह बात बराबर समझ में आएगी कि जब पूर्व तैयारी किए बिना हम बालक को सीधे ही अक्षर घोटने के लिए बिठा देंगे तो बालक को बहुत मेहनत पड़ेगी तथा वह ऊबने लगेगा। जब बालक घोटना सीख जाए तो इसका यह अर्थ है कि अक्षर को हम जिस तरह लिखते हैं, उसी तरह वह अपनी उंगली के द्वारा अनुसरण करता है।

यह क्रिया बालक को तुरंत आ जाती है और उसमें उसे आनंद भी आता है। इस क्रिया को बार-बार करके वह अक्षर लिखने की क्रिया में स्नायुओं का वांछित अभ्यास सिद्ध करता है। अक्षर को घोटने के काम से फिर कापी में लिखते समय काटाछांटी का भय नहीं रहता। जब भी बालक घोटने में भूल करता है त्योंही अक्षरों का खुरदरापन तथा चिकनापन उसका ध्यान स्वतः आकृष्ट करते हैं। यहां पर वह पेंसिल से लिखे बगैर वस्तुतः काम लिखने का ही करता है। इस काम में प्रवीणता आते ही बालक आंखों पर पट्टी बांध कर अक्षरों पर हाथ फेरने लगेगा। यहां उसके हाथ को स्वयं अक्षर ही खींचेंगे–अभी तक तो आंखें उसके साथ थीं, लेकिन अब अक्षर का स्वरूप, स्पर्श तथा स्नायु के द्वारा उसके मस्तिष्क में दृढ़ हो चुका है। आंख के द्वारा एक अलग ढंग से, तो स्पर्श और स्नायुओं के द्वारा दूसरे ढंग से बालक को अक्षरों के मोड़ों-मरोड़ों का ज्ञान प्राप्त होता है। जब बालक को अक्षर सिखाए जाते हैं, तब वह तीन साधनों से इस काम में प्रवृत्त होता है। ये हैं–आंख, स्पर्श तथा स्नायु। आगे चलकर अकेले आंख की मदद से ही अक्षर सिखाने पर कम श्रम में तथा कम समय में अक्षर-ज्ञान संभव हो जाता है। बचपन में स्पर्श तथा स्नायु अधिक तीव्र होते हैं। अतः बहुधा बालक आंख की बजाय भी इनके द्वारा अधिक अच्छी रीति से अक्षरों को पहचान लेता है। अक्षर को घोटने से आंख, स्पर्श एवं स्नायु को उसका जो भान होता है, उसके साथ ही यदि अक्षर की ध्वनि का भी भान कराया जाए तो अक्षर को घोटने से बालक के मस्तिष्क में उसकी जो मूर्ति बनती है उसके साथ ध्वनि भी जुड़ जाती है और इस तरह वह अक्षर आकृति और ध्वनि दोनों के साथ याद रहता है।

बालक को अक्षर सौंपने के पश्चात् वह उसको जब तक घोटना चाहे, घोटने दें, बस घोटते समय वह उसके नाम का उच्चारण भी करता रहे। जब वह एक अक्षर को घोट ले, तब उसे दूसरा अक्षर भी बताया जाए और उसका नाम भी बोल कर सुनाया जाए तथा उसे बालक के पास रख दिया जाए। इस अक्षर को भी वह प्रथम अक्षर की भांति घोटे। जब दोनों अक्षरों का वह घोट कर अभ्यास कर ले तब उसे सेगुइन के शेष दो चरणों के

आधार पर आगे पढ़ाया जाए। शिक्षक त और प को टेबिल पर रख कर बालक से कहे : 'मुझे त दो।' या 'मुझे प दो।' यदि बालक आंख से देखकर अक्षर न ला सके तो उस अक्षर पर उंगलियां फेरने का काम जारी रखें। इतने अभ्यास के बाद भी यदि कहने पर बालक अक्षर को आंखों से पहचान कर न ला सके तो अक्षर सिखाने का काम उस समय तो बंद ही कर देना चाहिए ताकि बाद में किसी अनुकूल अवसर पर फिर से उठाया जा सके। बालक की इच्छा जब तक न हो तब तक उसे पढ़ाने या उसकी त्रुटियां न निकालने के संबंध में ऊपर लिखा जा चुका है।

जो बालक त और प को बारी-बारी से लाना समझ ले तो कुछ देर तक अक्षरों को पड़े रहने दें (सेगुइन का तीसरा चरण काम में लाएं) और यह पूछें 'यह क्या है?' 'यह क्या है?' अथवा 'यह कौनसा अक्षर है?' 'यह कौनसा अक्षर है?' इस तरह सारे अक्षर सिखाए जा सकते हैं।

अक्षर ज्ञान कराने में अमुक क्रम ही रखा जाए, ऐसा आग्रह न रखें। कई बार बालकों को कुछ अक्षर पसंद आ जाते है। ऐसे में उन्हें पहले सिखा दिया जाए।

अंतिम चरण में बालक की उच्चारण-शुद्धि की आवश्यकता आती है। कई बार उच्चारण शुद्धि के अभाव में बालक तीसरे चरण का काम करने में असफल रहता है। जब बालक अक्षर सीखते समय उसका उच्चारण करता है तब हम उसके वाणी-दोष से परिचित हो सकते हैं। भाषा-विकास की अपूर्णता की वजह से बालक की वाणी में जो दोष रह जाते हैं, उन पर शिक्षक को ध्यान देना चाहिए। इस ध्यान पर ही वाणी के संबंध में बालक की प्रगति कैसी हो रही है, यह बात निर्भर करती है तथा बाल्यावस्था में भाषा कैसे विकसित होती है, इस बात का अच्छा-खासा अभ्यास हो सकता है। यह अत्यंत महत्व की बात है।

वाणी की इन त्रुटियों को सुधारने में तथा पाठ पढ़ाते समय हमारी परेशानियों को कम करने में बाल-विकास से संबंधित शारीरिक नियमों का ज्ञान हमारे लिए अधिक उपयोगी होगा।

बड़ी उम्र के व्यक्तियों में हमें जो उच्चारणगत दोष सुनने को मिलते हैं, उनका बड़ा कारण यही है कि बचपन में भाषा-विकास के समय जो त्रुटियां हुई थीं, उन्हें सुधारने पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया था। ऊंची कक्षाओं में आए विद्यार्थियों की उच्चारण-शुद्धि पर अधिक मेहनत करने की बजाय जब बालक छोटा होता है तभी उसके भाषिक-विकास की दिशा निश्चित करके यदि अनुसरण किया जाएं तो परिणाम भी सुंदर आते है और हमारी बहुत-सी मेहनत भी बचती है। अधिकांशतः अशुद्ध उच्चारण का मुख्य कारण है घरेलू बोली को व्यवहार में लाना। जब यह त्रुटि एक बार अपनी जड़ें जमा लेती है तो फिर सुधारने का काम बहुत मुश्किल हो जाता है। बाल्यावस्था से ही यदि बालक की भाषा का सम्पूर्ण विकास करने वाली शिक्षा-पद्धति को उपयोग में लाया जाएगा तो उक्त उपाधि को हम आसानी से दूर कर सकेंगे।

यहां जिन दोषों का वर्णन हुआ है वे शारीरिक अपूर्णताओं, निर्बलता अथवा रुग्णता के कारण खड़े नहीं हुए हैं। इन अपूर्णताओं के लिए तो डॉक्टर के पास जाना पड़ता है। यहाँ तो गलत उच्चारण सुनने अथवा अपूर्ण उच्चारण का अनुसरण करने से होने वाले दोषों के बारे में कहा गया है। ऐसे दोष अक्षरज्ञान कराते समय अपने आप प्रकट होते हैं। इन्हें सुधारने का सर्वोत्तम मार्ग यही है कि बालक से बार-बार शुद्ध उच्चारण करवाया जाए। यह क्रिया अक्षर सिखाने की क्रिया में आ जाती है अतएव अक्षर सिखाने के साथ ही साथ भाषा-शुद्धि एवं उच्चारण-शुद्धि चलती जाती है। बालक को वाणी के शुद्ध वातावरण में रखने की आवश्यकता है। इस महत्त्वपूर्ण विषय पर एक प्रकरण अलग से लिखना उचित होगा।

यहां तक आते-आते लेखन-शिक्षण की दो श्रेणियां पूरी हो जाती हैं। इन दोनों श्रेणियों के परिणामस्वरूप बालक को कलम थामना तथा अक्षर को मोड़ देकर बनाना आ जाता है। यदि बालक को ये दोनों श्रेणियों उचित रीति से, वांछित पुनरावर्तन के साथ करवाई जाएं तो वह हर हालत में लिखने के लिए तैयार हो जाता है – उसमें लेखन-शक्ति का प्रादुर्भाव हो

जाता है। इन दोनों श्रेणियों में बालक चॉक, पेंसिल, होल्डर हाथ में नहीं पकड़ता, फिर भी वह लिखने का ही काम करता है।

जिस प्रकार अक्षरज्ञान के साथ उच्चारण-शुद्धि का काम चलता है, उसी प्रकार वाचन का काम भी चलता है।

जब बालक अक्षर को ग्रहण करता है तो उसके साथ ही उसका उच्चारण सुनाई देता है और अपनी दृष्टि, स्पर्श एवं स्नायुओं के द्वारा वह उस अक्षर की एक मूर्ति अपने दिमाग में बना लेता है, तब ध्वनि को वह इस मूर्ति के साथ जोड़ने लगता है। आशय यह है कि वह आवाज और अक्षर का संबंध स्थापित करता है। तदुपरांत बालक जब-जब अक्षर पर हाथ फेरता है तब-तब लिखता ही है, ऐसा कहना बिल्कुल उचित ही है। वाचन का सीधा-सादा तथा प्राथमिक अर्थ यही लेने का है कि बालक अक्षर को ध्वनि की संज्ञा में बोलता है। एक ही क्रिया में बालक लेखन-वाचन के दोनों काम कर लेता है और उसे पता ही नहीं चलता। वैसे अक्षर ज्ञान कराते समय लिखना पहले सिखाया जाता है और वाचन बाद में। यह स्वाभाविक है। पर आगे चलने पर बालक पहले वाचन करता है अथवा पहले लिखना सीखता है–इस द्वंद्व में पड़ने की बजाय हमें अवलोकन करके अनुभव प्राप्त करने की जरूरत है। लिखना आसान है, यह भी अनुभव के बगैर कहा नहीं जा सकता। अपने बहम दूर करके यदि हम देखेंगे तो सचाई हाथ लगेगी। व्यक्तिगत रुचि के कारण कुछ बालक यदि पहले लिखेंगे तो कुछ पहले पढ़ेंगे। इससे हमें बाल-विकास के मार्गों का दर्शन होगा। अभी हमें इस नवीन क्षेत्र में नए प्रयोग करने शेष हैं।

वाचन के बारे में तो अन्यत्र ही लिखा जाएगा।

4.

तृतीय श्रेणी

शब्द-संयोजन की क्रिया : लेखन-वाचन की दिशा में एक अगला कदम है ध्वनि तथा संज्ञाओं के एकीकरण की क्रिया।

बालक अक्षरों को जानते हैं, लेकिन जब तक वे उन्हें इकट्ठे करके उनका उच्चारण करना न जानें, तब तक शब्दों अथवा वाक्यों को लिखने का काम शुरू नहीं हो सकता। अतएव संज्ञाओं एवं ध्वनि का एकीकरण सधना चाहिए। यहां प्रस्तुत है इस सिद्धि का क्रम।

साधन : चल मूलाक्षरों का सन्दूक। इस सन्दूक में खाने ही खाने होते हैं अर्थात् ऐसे खाने, कि जिनमें उनके आकार के अक्षर सही-सही समा सकें। प्रत्येक खाने में नीचे ही नीचे अक्षर का नाम चिपका हुआ होता है। नाम के अनुसार अक्षर जमाये जाते हैं। अक्षरों का आकार रेजमाल वाले अक्षरों के जैसा चाहिए। ये अक्षर कार्ड-बोर्ड के पतले गत्ते से काटकर बनाये जाते हैं। अक्षरों में स्वरों, व्यंजनों तथा स्वर-संज्ञा का समावेश होता है। व्यंजन तथा स्वर गुलाबी रंग के होते हैं तथा स्वर-संज्ञाएं नीली। प्रत्येक खाने में एक ही किस्म के एकाधिक अक्षर होते हैं।

साधनों की प्रयोग-विधि : जब बालक को कुछ अधिक अक्षर समझ में आने लगें तब उसे इन चल-मूलाक्षरों का परिचय कराया जाना चाहिए। उसे जितने अक्षर आते हों उतने ही सन्दूक में भर कर उसके सामने रख देने चाहिए। ये अक्षर ऐसे हों कि उनके द्वारा अर्थसूचक शब्द बनाये जा सकें। ये अक्षर बालक को आने ही चाहिए।

शिक्षक कोई ऐसा शब्द चुने, जिससे बालक परिचित हो और फिर उसका धीमे-धीमे शुद्ध उच्चारण करे। वह शब्द में प्रयुक्त एक वर्ण को एक-एक कर अत्यन्त स्पष्टता से बोले। मान लें उसने पग शब्द चुना और फिर धीमे-धीमे उसका शुद्ध उच्चारण किया – 'प....प....प.... ग....ग....ग.....।' इन वर्णों से सुपरिचित होने के कारण ज्योंही एक-एक करके वर्ण उसके कानों में पड़ेंगे त्योंही वह अक्षरों की ध्वनि को पहचान जाएगा और उस ध्वनि से संबंधित संज्ञा को ढूंढ़ने के लिए संदूक की तरफ लपकेगा। वह एक के बाद दूसरा अक्षर निकालकर उन्हें पास-पास रखेगा और इस प्रकार बोले गए अक्षर बता देगा। शुरूआत में संदूक में से अक्षरों को ढूंढ़ निकालना थोड़ा कठिन होगा, लेकिन कुछ ही अर्से में जब उसकी आदत बन जाएगी तो कठिनाई नहीं रहेगी।

यद्यपि बालक अक्षरों को सजा कर सामने रख देगा, पर वह उन्हें एकाएक पढ़ नहीं सकेगा। पढ़ने के लिए उसे कुछ मेहनत करनी पड़ेगी। शुरूआत में शिक्षक बालक से शब्द को पढ़ने का आग्रह भी करे और साथ ही साथ स्पष्टता से स्वयं भी पढ़ कर बताये। पहले बालक शब्द को धीमे पढ़ेगा, लेकिन बाद में शब्द को पढ़ने की गति बढ़ने के साथ ही उसे एकाएक शब्द का अर्थ स्फुरित होगा और तब उसे उस खेल का रहस्य समझ में आएगा। फिर तो बालक आनंदपूर्वक स्वतंत्र रूप से खेल खेलने लगेगा। हम शब्द बोलते जाएंगे और बालक तदनुसार चल-मूलाक्षरों से शब्द लिखता जाएगा। आगे चल कर तो वह स्वयं अपनी मन-पसंद के शब्द मन में बोलता जाएगा और हमारी मदद लिए बिना ही उन्हें जमाने लगेगा। जब बालक यह काम करता है तो उसे बहुत मजा आता है। उसका ध्यान जम जाएगा। वह सन्दूक की तरफ स्थिर भाव से देखेगा और मुँह से आवाज निकाले बिना फुसफुसाता रहेगा तथा एक के बाद एक अक्षर उठाता जाएगा। उसके शब्द-संयोजन कार्य में जरा भी त्रुटि नहीं होगी। वह होठ फड़फड़ाता जाएगा, उससे लगेगा कि वह जिन ध्वनियों को संज्ञा रूप में रख रहा है उन ध्वनियों-शब्दों को वह मन ही मन कितनी ही देर से बोलता रहता है। इससे पता लगेगा कि बालक अपने काम में कितना आनंद ले रहा है।

सामान्यतया जो शब्द बोला जाएगा बालक उसे जोड़कर बता देगा, पर हमें तो ऐसा ही शब्द चुनना है कि जिससे बालक परिचित हो और उसे जोड़ सके। कारण यह है कि हम उस संयोजन में शब्द में विद्यमान अर्थ का विचार जानना चाहेंगे, अतः शब्द-चयन पर ध्यान देना होगा। जब बालक ऐसे परिचित शब्दों को लिखता है तब लिखने के पश्चात् वह उन्हें विचारपूर्वक एवं ध्यानपूर्वक बार-बार पढ़ता भी है।

शब्द जोड़ने की इस क्रिया का महत्व बहुमुखी है। जब बालक सुनी हुई या बोली हुई ध्वनि का सूचक पदार्थ ढूंढ़ कर लाता है तो वह अपनी वाणी का वर्गीकरण करता है, उसे स्थिर करता है और साथ ही साथ उसे

पूर्ण करता है। शब्दों को जोड़ने के परिणामस्वरूप उसे लगता है कि उसका उच्चारण स्पष्ट एवं तेज होना चाहिए। इस रीति से जो ध्वनि बालक को सुनाई देती है उसको बराबर संज्ञा में प्रदर्शित करना उसे आ जाता है। यह ज्ञान शुद्ध एवं सम्पूर्ण शब्द-संयोजन का आधार रूप है।

शब्द-संयोजन का काम अपने आप में बुद्धि-विकास का एक व्यायाम है। जब बालक के समक्ष कोई शब्द बोला जाता है तो उच्चारित शब्द बालक के समक्ष एक समस्या पैदा करता है, जिसे उसको शब्द की ध्वनि के अनुसार संज्ञाएं ढूंढ़ कर हल करनी है। सुनी हुई ध्वनि उसे याद रखनी पड़ती है, उस ध्वनि से संबंधित संज्ञा उसे अपने मन के समक्ष खड़ी करनी पड़ती है तथा अन्य संज्ञाओं में से उसे मुक्त करके यथाक्रम में शब्द रूप में जमानी पड़ती है। जब वह अपने द्वारा जमाये गए शब्द को पढ़ता है और उसे विश्वास हो जाता है कि जो ध्वनि उसने सुनी थी, वही ध्वनि इस वाचन से निकलती है तो उसे इस बात का प्रमाण मिलता है कि उसने समस्या को हल कर लिया। जो विचार उसने शब्द सुनते समय ग्रहण किया था वही विचार अब वह स्वयं शब्द पढ़ता है या दूसरे पढ़ते हैं तब प्रकट होता है, यह ज्ञान उसके बौद्धिक विकास का परिणाम है।

जब बालक किसी अन्य को अपने द्वारा जोड़े गए शब्द को पढ़ते हुए सुनता है तो उसके चेहरे पर संतोष व अभिमान के चिह्न दिखाई देते हैं। वह किसी अद्‌भुत आनंद में गर्क हो जाता है। जब यह बात उसके मन में उत्पन्न होती है कि संज्ञाओं के द्वारा एक-दूसरे के बीच समझने-समझाने का व्यवहार चल सकता है तो उसे वह सब एक बड़े चमत्कार के जैसा लगता है। इस उम्र में ऐसी शक्ति तथा ऐसी बुद्धि का होना कोई ऐसी-वैसी बात नहीं है। जब बालक शब्दों को जोड़कर पढ़ने लगें तब नित्य की भांति उन शब्दों को संदूक में यथास्थान रखने की आदत उनमें विकसित करनी चाहिए।

पहले जब बालक संदूक में से अक्षर निकालकर शब्द बनाता है और फिर जब उन शब्दों के अक्षर लेकर वापिस संदूक में यथास्थान रखता

है तो बालक एक साथ दो क्रियाएं करता है – एक, वर्णों की समानता का अभ्यास और दूसरे, ध्वनि के अनुसार वर्णों का चयन। ये दोनों क्रियाएं शब्द की ध्वनि को संज्ञा से जोड़ती हैं। इस तरह बार-बार क्रियाएं दोहराने से शिक्षण का कार्य द्रुत गति से चलता है। पुरानी पद्धति द्वारा सिखाने में जितना समय लगता है उसका तीसरा हिस्सा ही इस पद्धति में व्यय होता है। धीरे-धीरे बालक का ऐसा मुहावरा पड़ जाएगा कि शब्द सुनते ही अथवा शब्द का विचार करते ही उसकी मानसिक आंख के सम्मुख शब्द में प्रयुक्त होने वाले वर्ण अपने आप जुड़ने या तैरने लगते हैं। आंखों के आगे खड़ा होने वाला यह दृश्य आश्चर्य उत्पन्न करे, ऐसी त्वरा से बालक स्थूल रूप में प्रस्तुत कर सकता है –कहने का आशय यह है कि बालक शब्दों को एकदम जोड़ सकता है। एक-दो उदाहरण लें–

एक दिन चार वर्ष का बालक छत पर दौड़ रहा था। दौड़ते-दौड़ते वह एकाएक बोलने लगा : 'अगर मुझे Z a i r a (जेइर) बनाना हो मेरे पास Z, a, i , r, a होने चाहिए। स्पष्ट है कि किस तरह बालक शब्द का मानसिक दर्शन करने के पश्चात् उसे मूर्त रूप देता है।

एक दिन प्रोफेसर डी-डोनेटो (Di-Donato) बालगृह देखने आए। उन्होंने चार वर्ष के एक बच्चे को अपना नाम बताया। वह बालक चल-मूलाक्षरों के द्वारा उनका नाम बनाने लगा। पहले उसने Diton नाम लिखा। प्रोफेसर ने स्पष्ट उच्चारण करके अपना नाम पुनः बताया : डी.डोनेटो (di-donato) बालक ने नाम सुना तो अपनी त्रुटि का उसे पता लगा। उसने जमाए हुए अक्षरों को बिखेरा नहीं। उसने to को एक तरफ रखकर उसके स्थान पर do रखा और फिर n और a जोड़ने के पश्चात् किनारे रखे हुए to को अंत में जमाया। इस तरह di, do, na, to शब्द बनाकर दिखा दिया। जब बालक के सामने प्रोफेसर का नाम फिर से बोला गया था तब उसने गौर किया था कि to अंत में आता है और उसने to को तुरंत बाहर निकाल लिया और शेष अक्षरों को सही-सही जोड़ने के बाद अंत में to जमा दिया। चार वर्ष के एक बालक के लिए

यह अत्यंत आश्चर्यदायी बात थी। वहां उपस्थित सभी लोग देखकर आश्चर्यचकित रह गए। बालक में इस अद्‌भुत शक्ति का विकास उपर्युक्त क्रियाओं की परिणति है।

हमने एक के बाद एक तीनों श्रेणियों के बारे में पढ़ा। भाषा-शिक्षण की सभी पद्धतियां इन तीनों श्रेणियों में आ जाती है। इन तीनों श्रेणियों से होकर निकलने वाले बालक की लेखन-शक्ति स्वयं सिद्ध है। इससे इस शिक्षण पद्धति का महत्त्व भी ज्ञात होता है। लेखन एवं वाचन में जो अलग-अलग क्रियाएं समाहित हैं वे उक्त तीनों श्रेणियों के द्वारा परिपक्व होती हैं और ज्योंही इन तीनों श्रेणियों को उपयोग में लाने की प्रक्रिया पूरी होती है त्योंही एकाएक बालक बिना लिखे ही लिखने लगता है। लिखने के हथियार को नियंत्रित करने की शक्ति एक अलग ही प्रकार की क्रिया द्वारा विकसित की जाती है। अक्षर उकेरने के लिए स्नायु की गति पर भी एक दूसरी क्रिया के द्वारा नियंत्रण किया जाता है तथा देखी-सुनी मूर्तियों का योग एक तीसरी क्रिया के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है। एक समय ऐसा आता है कि बालक कुछ और सोचे बगैर खड़ी-टेढ़ी लकीरों के द्वारा भौमितिक आकृतियां भरता रहता है। एक और समय आता है जब बालक आंखों पर पट्टी बांध कर अक्षरों का स्पर्श करता है, जब वह अपनी उंगली द्वारा हवा में अक्षर बनाकर बताता है और अंत में वह समय भी आता है जब अक्षरों के संयोजन का काम बालक के सम्पूर्ण जीवन में छा जाता है। इसका प्रमाण हमने ऊपर के उदाहरण में देखा कि छत पर घूमने वाले बालक ने 'मुझे Zaira बनाना है तो Z, a, i, r, a अक्षरों की जरूरत पड़ेगी, कहते सुना था।

ऐसे बालक ने पहले कभी लिखा तक नहीं, लेकिन हां, उसने उपर्युक्त रीति से क्रमशः लिखने की क्रियाएं अवश्य आत्मसात की। इन साधनों के परिणामस्वरूप बालक एकाएक लिखने लगता है। अगर उसे कभी पूछें तो उसे पता भी नहीं चलता कि उसे लिखना कैसे आया। उसे तो यह सब चमत्कार ही लगेगा, अतएव जब बालक से कुछ लिखाया

जाएगा तो उसे यह काम आसान लगेगा, क्योंकि जैसे ही हम बोलते हैं, वैसे ही उसको अक्षर जोड़ना तो आता ही है। यही नहीं, वह पूरे शब्द को अपने मन-मस्तिष्क में खड़ा कर सकता है। उसे आंखें मूंद कर उंगली से हवा में अक्षर बनाना भी आता है और लिखने के साधन पर तो उसका नियंत्रण है ही।

फिर ऊपर जिन यांत्रिक क्रियाओं का वर्णन किया गया है, बालक उन सबको एक-एक कर आत्मसात करता जाता है और स्वतंत्र रीति से स्वयं-स्फूर्ति का अनुसरण कर लेता है। इन यांत्रिक क्रियाओं को आत्मसात करने के कारण उसकी आत्मा इतनी दृढ़ हो जाती है कि वह हर क्षण स्वयं को व्यक्त करने के लिए उद्यत रहती है। यांत्रिक क्रियाएं उसके लिए साधन स्वरूप होती हैं। इन साधनों के द्वारा बालक की आत्मा अभिव्यक्त हो, इसी में लेखन-शिक्षण की पूरी-पूरी सफलता समाहित है। इतनी तैयारी के पश्चात् जल्दी या देरी से बालक स्वयंस्फूर्ति से एकाध बार लेखन के पीछे पड़ जाता है और अपनी पूरी शक्ति लेखन-क्रिया में झोंक देता है।

लेखन के स्व-स्फूर्त प्रस्फोट के एकाध अनुभव का उदाहरण देना यहां अप्रासंगिक नहीं होगा।

डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं : 'दिसम्बर के एक सुन्दर प्रभात के समय बालक एक छत पर गए। सूर्योदय का प्रकाश फूट रहा था और हवा वासंती थी, आह्लादक कुछ बालक अलग से खेल रहे थे तो कुछ मेरे चारों ओर इकट्ठे थे। मैं एक चिमनी के पास बैठी थी। पांच वर्ष के एक बालक को चाक थमाते हुए मैंने कहा : 'ले, इस चिमनी का चित्र बना दे।' बालक नम्रतापूर्वक उठ खड़ा हुआ और उसने चिमनी का साधारण-सा चित्र छत के पत्थरों पर बना दिया। मैंने अपनी रोजाना की आदत के अनुसार बालक के इस काम की प्रेमपूर्वक प्रशंसा की, थोड़ी तारीफ की और उसे उत्साहित किया। बालक ने मेरी तरफ देखा और मुस्कुराया। एकाध क्षण के पश्चात् मानो हर्ष का तूफान उमड़ने लगा हो, इस तरह से वह जोर से बोल उठा : 'मैं लिख भी सकता हूं, लिख भी सकता हूँ।' इस तरह कहते हुए वह नीचे

झुका और उसने छत की फर्श पर हाथ, चिमनी, छज्जा आदि शब्द लिखे। वह जैसे-जैसे लिखता गया, वैसे-वैसे उनको पढ़ता भी गया। 'मैं लिख भी सकता हूँ, लिख भी सकता हूँ' की आवाज सुनकर कुछ बड़े लड़के दौड़ कर आ गए और उसके चारों ओर घेरा बनाकर उसके द्वारा लिखे हुए शब्दों को देखने लगे। उनके आश्चर्य की कोई सीमा न थी। आवेश से कुछ स्पंदित होते दो-चार बालक मेरे पास आए और बोले : 'मुझे भी चाक दीजिए, मैं भी लिखूंगा।' और तब उन बालकों ने कितने ही शब्द लिख दिये–मां, जॉन, हाथ, चिमनी आदि, आदि। उन बालकों में से पहले किसी ने भी न चाक पकड़ी थी, न कलम। उन्होंने पहली ही बार लिखा था। जिस प्रकार एक नन्हा बालक पहले-पहल बोलता है तो एक पूर्ण शब्द बोलता है, उसी प्रकार इन बालकों ने भी प्रथम बार एक पूर्ण शब्द लिखा।

'प्रथम बार जब बालक पहला-पहला शब्द बोलता है तो उसके आनंद का कोई पार नहीं होता। कई बार तो मानो मां के प्रेम का ऋण उतारने के लिए ही वह पहला शब्द 'मां' बोलता है। कैसे मधुर शब्द है! जब बालकों ने प्रथम शब्द लिखा, तब उनका आनंद सचमुच वाणी द्वारा वर्णन किए जाने से परे था। उन्हें तो पता ही नहीं था कि वह सब तो पुनरावर्तन की परिणति मात्र था। वे पूर्व तैयारी और लेखक के बीच अन्तर्निहित संबंध के महात्म्य को नहीं समझ पाए, अतः उन्हें तो यही लगा कि वे अब बड़े हो गए हैं, इस कारण उन्हें लिखना आ गया होगा। जिस प्रकार अन्य चीजें प्रकृति ने उन्हें प्रदान की थी वैसे ही लेखन भी प्रकृति ने प्रदत्त किया है।

'बालकों की ऐसी मान्यता है कि जब वे बड़े और बलवान हो जाएंगे तब कभी ऐसा स्वर्णिम दिन आएगा कि जब उन्हें लिखना आ जाएगा और वस्तुतः ऐसा ही होता है। बोलना सीखने से पहले उन्हें पता भी नहीं लगता और जिन स्नायुओं के सहकार द्वारा शब्दोच्चार होता है, उनका उन्हें सहयोग प्राप्त हो जाता है।

'लेखन के बारे में बालक लगभग ऐसा ही करते हैं। परन्तु शिक्षाशास्त्र की सहायता से लेखन की जिन क्रियाओं को साधा जाता है,

उनसे वे जितने अर्से में शुद्धता से बोलने की शक्ति अर्जित करते हैं, उससे भी कम समय में लिखने की शक्ति प्राप्त करते हैं।

'यद्यपि लेखन-ज्ञान आसानी से दिया जा सकता है पर उसकी तैयारी आधी-अधूरी नहीं, सम्पूर्ण है। लिखने से पूर्व बालक को लिखने की तमाम ज़रूरी क्रियाएं आ जाती हैं और पूर्व तैयारी की वजह से उसके भीतर लिखने का तूफान एकाएक उमड़ने लगता है। लेखन की पूर्व तैयारी का काम तो क्रमशः चलता है, पर लेखन का काम क्रमशः नहीं, एकाएक फूटता है। इसका यह अर्थ हुआ कि बालक पहले एक अक्षर लिखे, फिर दूसरा लिखे। यों करते-करते वह शब्द लिखने लगे। पर ऐसा नहीं होता और एक दिन बालक एकाएक लिखने लगता है। मुझे अपने बालगृह में ऐसा एक अनुभव मिला था। जब बालक एकाएक लिखने लग गए तब हमारे उत्साह की सीमा नहीं थी। हमें लगा कि मानो कोई स्वप्न देख रहे हों अथवा किसी जादुई प्रभाव में हों।

'जब बालक ने पहली बार शब्द लिखे तब उसके आनंद का उभार असाधारण था। अंडा देने के बाद मुर्गी को जैसा आनंद मिलता है वैसा ही आनंद इस बालक को मिल रहा था। वह अपने आनंदोद्‌गार की तरफ सब का ध्यान खींच रहा था। हर व्यक्ति को अपनी रचना दिखाने के लिए आमंत्रित कर रहा था। यदि कोई उसके आमंत्रण पर ध्यान नहीं देता तो वह उसके कपड़े खींच कर आग्रहपूर्वक उसे खींच लाता था। हमें उसके द्वारा लिखे गए शब्द की तरफ जाना पड़ा था, तथा उस रचनाकार के आनंदोद्‌गारों में अपने आश्चर्योद्‌गार सम्मिलित करने पड़े थे।

'पहला शब्द लिखने के पश्चात् बालक आनंद में पागल हुए से जहां-तहां लिखने लगे। लिखने के लिए श्यामपट्ट पर उमड़ कर गिरते बालकों को मैंने अपनी आंखों से देखा था। जब बड़े बालक श्यामपट्ट के पास बैठ कर लिख रहे थे, तब छोटे बच्चे उनके पीछे कुर्सी रख कर, उन पर चढ़े हुए श्यामपट्ट के ऊपरी हिस्से में लिख रहे थे। कई बालकों को लिखने के लिए श्यामपट्ट नहीं मिला तो कुर्सियों पर बैठे अपने मित्रों को

हटा कर कुर्सी को टेढ़ा करके उसी पर लिखने लगे। और कुछ बालकों ने तो खिड़की-दरवाजों को ही लिख-लिख कर चित्रित कर दिया। इन शुरूआती दिनों में मानो हम लेखन-संज्ञा की दरी पर चल रहे थे। यही बात बालकों के घरों में साफ दृष्टव्य थी। जब बच्चे घरों में फर्श पर अथवा ब्रेड पर लिखने लगे तो माताओं ने उन्हें लिखने के लिए कागज-पेंसिलें भेंट की। एक दिन एक बालक मेरे पास आया। उसने मेरे हाथ में नोटबुक रखी। पूरी नोटबुक उसकी लिखावट से भरी हुई थी। उसकी मां ने मुझसे कहा कि बच्चा पूरे दिन और रात तक लिखता ही रहा था। आखिर वह थककर पेंसिल, नोटबुक हाथ में लिए हुए ही सो गया था।

'इस अप्रतिहत आवेश के प्रवाह को देखकर मुझे कुदरत का रहस्य समझ में आया। कुदरत हमेशा धीमे-धीमे तथा क्रमशः बोलने की भाषा का विकास करती है, परिणामस्वरूप भाषा तथा विचारशक्ति भी साथ-साथ विकसित होते जाते हैं। यदि मेरी तरह कुदरत भी समझदारी को दर-किनार करके बाल-विकास को साधती होती तो बालक पर कितना जबरदस्त बोझ आ पड़ता, यह सोचने की ही बात है। मान लें कि कुदरत ने इन्द्रियों के द्वारा बहुमूल्य एवं विविध ज्ञान-सामग्री लेने-देने की अनुकूलता प्रदान की होती और साथ ही साथ यह आदेश किया होता कि जब तू सम्पूर्णतया अपने विचार व्यक्त करने लगे तभी तू बोलेगा, अन्यथा नहीं, तब तो जब बालक को बोलने की आज्ञा मिलती या बोलने का दिन आता, तब वह पागल ही हो गया होता। नया-नया बोलने की खुशी के बोझ तले वह दब जाता या फिर प्राप्त ज्ञान उसके लिए भयंकर दुखदाई हो गया होता।

'मुझे लगता है कि कुदरत तथा मेरे दोनों उपर्युक्त वर्णित मार्गों के बीच का मार्ग ही दृष्ट है। हमारा तो मध्यमार्ग है। लेखन के संबंध में हमें यह मार्ग स्वीकार करना चाहिए, अर्थात् हमें बालक को लेखन का नियंत्रण क्रमशः पर तेजी से देना चाहिए और वस्तुतः यह नियंत्रण स्वयं-स्फुरित क्रिया के द्वारा ही आना चाहिए। फिर प्रत्येक क्रिया पहले से ही सर्वांग सम्पूर्ण तो होनी ही चाहिए।

'एकाएक फूट निकलने वाले इस व्यापार को किस तरह नियंत्रित किया जाए तथा किस तरह इस नयी शक्ति की दिशा में प्रवृत्त किया जाए, यह बात अनुभव ने मुझे सिखाई। बच्चे अपने मित्रों को लेखन-कार्य करते देखकर लिखने की क्रिया बहुत पहले शुरू कर देते हैं। जब इस प्रकार दूसरे बालकों को लिखते देखकर बालक लिखना सीखता है तो निश्चित मानिये कि उसे पूरी वर्णमाला का ज्ञान नहीं हो पाता, फलतः वह कुछ ही शब्द बना सकता है। इस स्थिति में वह स्वयं जितने शब्द जानता है–बोलना जानता है, उन सब को चल-मूलाक्षरों द्वारा जोड़ नहीं सकता। पहला शब्द लिखते समय ऊपर वाले उदाहरण में वर्णित बालक को जो आनंद मिला था, वही आनंद इस बालक को भी होता है, लेकिन वह स्वयं ऐसी घटनाओं को अपनी नजरों से देखता है और उसे विश्वास है कि देर-सवेर वह भी इसी तरह कुदरत की बख्शिस को प्राप्त करेगा अतः जब वह पहला शब्द लिखता है तब उसे उपर्युक्त बालक के समान आश्चर्य नहीं होता, न ही वह हर्ष में बावला हो जाता। कहना न होगा कि स्वयंस्फूर्ति में क्रमशः लेखन-व्यापार का उद्‌भव होने पर वातावरण शांत, सुंदर तथा अद्‌भुत आश्चर्य से भरपूर रहता है।

'लेखन के स्वयं-स्फुरित व्यापार दिनों-दिन बढ़ते जाते हैं अतः बालगृहों में बाल-विकास का यह एक स्वाभाविक प्रकार है। यदि बालक की पूर्व-तैयारी सम्पूर्ण हो जाए फिर भी बालक स्वयं-स्फूर्ति से लिखने को प्रवृत्त न हो तो ऐसे में शिक्षक को चाहिए कि वह बालक को लेखन की दिशा में प्रोत्साहित करे।

'लेखन के लिए बालक को कब प्रोत्साहन दिया जाए, उसका निर्णय सुधी शिक्षक को स्वयं लेना चाहिए। पूर्व-तैयारी के बाद तो लिखना शुरू होना ही चाहिए। वैसे किसी भी स्थिति में लेखन की क्रिया को रोका जाता है तो नुकसान ही है। सम्पूर्ण तैयारी हो जाने तथा सारी वर्णमाला सीख जाने के बाद एकाएक लिखने की क्रिया शुरू करना जोखिम भरा काम है, क्योंकि तब उत्साह के वेग में बालक एकाएक अधिक प्रयत्न कर बैठता है।

'जब बालक भौमितिक आकृतियों में सीधी समानांतर तथा पास-पास रेखाएं खींचने लगे, तब समझ लेना चाहिए कि बालक अक्षरों को लिखने के योग्य हो गया है। बालक को लिखने का आग्रह करने से पहले जिस सम्पूर्णता का ऊपर जिक्र आया है वह आ जाने पर एकाध सप्ताह तक धीरज से इंतजार करना चाहिए कि बालक अपने-आप लिखने लगे। एक बार जब बालक लिखना शुरू कर दे तब शिक्षक को बालक की लेखन-प्रगति में सहायता करनी चाहिए। शिक्षक श्यामपट्ट पर लकीरें बना दे ताकि बालक लकीरों के बीच सही-सही लिखता रहे।

'यदि किसी बालक को अक्षरों की आकृतियों की पहचान पक्की न हुई हो तो उससे रेजमाल वाले अक्षरों पर उंगली फेरते हुए अभ्यास फिर से पक्का कराया जाना चाहिए। खराब अक्षर सुधारने का मार्ग बार-बार अक्षर लिखवाना नहीं है, अपितु जिस पूर्व तैयारी के द्वारा सुन्दर लेखन प्रकट होता है, उन पूर्व तैयारियों पर उसे बार-बार ले जाने से अपूर्णताएं कम होती है। अतः यदि अक्षर बराबर न निकलें तो पूर्व-तैयारी की जिस अपूर्णता की वजह से अक्षर बराबर नहीं निकल पाए, उस प्रक्रिया से बालक को बार-बार निकालना पड़ेगा। श्यामपट्ट पर लिखते समय बालक रेजमाल वाले अक्षर अपने पास रखे और जो शब्द उसे लिखने हों, उन्हें वह पहले अभ्यास करने के बाद ही श्यामपट्ट पर लिखे तो लिखने का काम अच्छा होगा। बालक में ऐसी आदत का विकास होना चाहिए।

'बालक को लिखना आ जाने तथा लम्बे समय तक लिखने की प्रक्रिया से निकल चुकने के बाद भी जिन तीन पूर्व तैयारियों का ऊपर वर्णन हुआ है, उस दौर से बार-बार निकलना पड़ता है। इस प्रकार बालक विधिवत लेखन-कार्य किए बिना ही सुन्दरता से लिखना सीख जाता है। हमारे बालकों के लिए लेखन एक जड़ यांत्रिक कसरत नहीं है, अपितु यांत्रिक क्रियाओं पर किए गए नियंत्रण की परीक्षा है। लेखन, लेखन के निमित्त नहीं अपितु अंतर-आवेश से फूटता है तथा उच्च कोटि की प्रवृत्ति का आनंद व्यक्त करने के लिए प्रस्फुटित होता है। जिस प्रकार सूफी की

आत्मा प्रार्थना के द्वारा पूर्णता प्राप्त करती है वैसी ही हमारे नन्हें बालक लेखन को--संस्कृति के उत्तम चिह्न को जो पूर्व क्रियाओं, अथवा जो लेखन की तरफ बालकों को ले जाए पर जो स्वतः लेखन नहीं, के द्वारा प्राप्त करते हैं तथा पूर्णता की तरफ ले जाते हैं।

'किसी विषय में प्रयत्न करने से पहले पूर्व तैयारी करना तथा प्रस्थान करने से पूर्व पूर्णता प्राप्त करना शिक्षा का एक तात्त्विक सिद्धांत है। जब बालक को अपनी गलतियां बार-बार सुधारनी पड़ती हैं, जो काम उससे आधा-अधूरा ही हो पाया था उसे पूरा करने के लिए हिम्मत से प्रयत्न करना पड़ता है, तथा जो काम अभी वह करने योग्य नहीं हुआ वे भी करने पड़ते हैं तो उसकी आत्मा का उत्साह धीमे-धीमे मंद पड़ जाता है और उल्टे वह अपनी त्रुटियों के प्रति उपेक्षा का भाव रखने लगता है। मेरी शिक्षण-पद्धति शिक्षा-सिद्धान्तों पर आधारित है। यह पद्धति बालकों को ऐसी शक्ति प्रदान करती है कि वे त्रुटि हर्गिज नहीं करते; यह उनको ऐसा स्वाभिमान देती है कि वे आगे बढ़ते जाते हैं तथा पूर्णता की तरफ बढ़ते जाते हैं; ऐसी नम्रता देती है कि जिन साधनों से मनुष्य आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करता है, उनके साथ उनका सुयोग कराती है तथा इस भ्रांति को दूर करती है कि तात्कालिक लाभ प्राप्त करने के प्रयत्नों में ही हमारे कर्त्तव्य की इतिश्री है।

'जो बालक लेखन की पूर्व तैयारियों के रूप में तीनों क्रियाएं करते हैं तथा जो महीनों से लिखते हैं और लेखन की सर्वांग सुन्दरता के लिए इन्हीं क्रियाओं का पुनरावर्तन करते हैं, वे सब एक ही दिशा में बढ़ते दिखाई देते हैं। वे एक ही लक्ष्य के यात्री हैं। अतः उनमें समानधर्मिता प्रवर्तित होती है। यहां सिखाऊ और दक्ष का फर्क नहीं है। सभी बच्चे आकृतियों में रेखाएं भरते हैं, रेजमाल के कागज को स्पर्श करते हैं तथा चल-मूलाक्षरों के द्वारा शब्द बनाते हैं। छोटे बालक बड़े बालकों के साथ ही यात्रा शुरू करते हैं। इसी स्थान पर यात्रा का लम्बा मार्ग तय कर लेने वाले बड़े बालक होते हैं। यात्रा की तैयारी करने वाले और मंजिल तक पहुंचे

हुए दोनों प्रकार के बालक एक ही मार्ग के प्रवासी हैं। यही बात सामाजिक जीवन पर घटित होती है। भले ही व्यक्ति-व्यक्ति को लेकर कितने ही सामाजिक भेद प्रवर्तित हों तब भी सभी मानव एक बिन्दु को लेकर समान हैं। इसी तत्व में मानवीय भ्रातृत्व निहित है। इसी भांति अध्यात्मिक जीवन में मुमुक्षु तथा मुक्त दोनों एक ही दिशा के–भले ही अलग-अलग कोटि के हों, पर एक ही मंजिल के प्रवासी होते हैं। उन्हें अपने मार्ग में एक ही प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं।

'जो बालक लेखन-कार्य में अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं, उन्हीं को सिखाया जाता है। वे लेखन-कार्य त्वरा से सीख जाते हैं। जब अध्यापिका अन्य बालकों को कोई पाठ पढ़ा रही हो अथवा जब अन्य बालक काम कर रहे हों, तब यदि कोई बालक अध्यापिका के पाठ में अथवा अन्य बालक के काम में स्वेच्छा और एकाग्रता से रुचि लेने लगे तो यही समझना चाहिए कि उस बालक की लेखन-कार्य में रुचि पैदा हो चुकी है। कुछ बालक ऐसे होते हैं कि जब दूसरे बालकों को पाठ पढ़ाया जाता है, तो देख या सुनकर वे भी अक्षर ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। सामान्यतया चार वर्ष का बालक लेखन-कार्य में बहुत रुचि लेता है। हमारे कई बालक तो साढ़े तीन वर्ष की उम्र में भी लिखना शुरू करने लगे थे। हमारा अनुभव रहा है कि बच्चे रेजमाल के अक्षरों को घोटने में बहुत रुचि लेते हैं। सामान्यतया जब से पूर्व तैयारी का काम शुरू होता है, तब से लेकर बालक पहला शब्द लिखता है, इस अवधि में महीने-डेढ़ महीने का समय लग जाता है। यह बात चार वर्ष के बालक पर लागू होती है। पांच वर्ष के बालक यह काम लगभग एक माह में पूरा कर लेते हैं। हमारे एक बालक ने तो सारी वर्णमाला 20 दिनों में सीख ली थी। चार वर्ष के बालक ढाई महीने में ही श्रुतलेखन का कोई शब्द अपनी नोटबुक में स्याही से लिखने में प्रवीण हो सकते हैं। अन्य अनेक कामों की बजाय बालकों को लिखने का काम आसान और आनंददायी लगता है। छह वर्ष से कम आयु के बालक जितनी सहजता से अक्षरज्ञान सीख जाते हैं उतनी ही सहजता से बड़ी उम्र के बालक सीख जाएं तो निरक्षरता आसानी से मिटाई जा सकती है। पर बड़ी उम्र के लोग बालकों के जितनी द्रुतता से नहीं सीख

सकते। इसके दो कारण हैं; एक तो यह, कि शिक्षा-संस्कार के अभाव में उनके स्नायु जड़ हो चुकते हैं और उनकी वाणी में दोष आ जाते हैं, जो शुद्ध लेखन में बाधक होते हैं। मैंने प्रयत्न तो नहीं किया, लेकिन मेरी ऐसी मान्यता है कि यदि निरक्षर व्यक्ति को एक वर्ष तक शिक्षण दिया जाए तो वह लिखना सीख सकता है और लेखन के द्वारा अपने निजी विचारों को व्यक्त करना मजे में सीख सकता है।

'हमारे बालक शुरू से ही सुडौल-सुन्दर अक्षर लिखते हैं। वे रेजमाल वाले अक्षरों के जैसे ही अक्षर बनाते हैं। सुडौल अक्षर बनाने में अन्य विद्यालयों के बालक हमारे बालकों की तुलना में टिक नहीं सकते। सुन्दर-सुडौल अक्षर बनाने के लिए हम बालकों का ध्यान स्पर्श के समय खास तौर से आकृष्ट करते हैं। लकीरें खींचने में भी यही बात कारणभूत होती है।' □

प्रकरण बारहवां

वाचन-शिक्षण

प्रबोधक साहित्य

साधन (1) कागज की पट्टियां अथवा गत्ते के टुकड़े, जिन पर बड़े-बड़े सुन्दर-सुडौल अक्षरों में शब्द एवं वाक्य लिखे हों (2) विविध खिलौने। डॉ. मोंटेसरी ने लिखा है कि 'अनुभव से मैंने जाना है कि लिखने व पढ़ने में अच्छा खासा अन्तर है। दोनों क्रियाएं लगभग एक ही साथ, एक ही समय में नहीं घटतीं। सामान्य मान्यता है कि पहले वाचन हो, फिर लेखन। लेकिन मेरी मान्यता है कि वाचन से पूर्व लेखन सिखाया जाना चाहिए। चल-मूलाक्षरों से संयोजित शब्दों को जब बालक बोलने पढ़ने लगता है तो निश्चय ही वह वाचन करता है। पर उस क्रिया को मैं वाचन का नाम नहीं देती। जब बालक ने शिक्षिका के द्वारा बोला गया शब्द चल-मूलाक्षरों के द्वारा जोड़ कर बनाया, तब उसने शिक्षिका द्वारा उच्चरित ध्वनि को संज्ञा के रूप में संयोजित किया था। अब जब वह संयोजित शब्दों का वाचन करता है तो वह संज्ञा को ध्वनि के रूप में व्यक्त करने के सिवाय विशेष कुछ नहीं करता। जिस ध्वनि को उसने संज्ञा का रूप दिया था, वह संयोजित संज्ञा के द्वारा उत्पन्न होती है या नहीं, इस बात का वह पक्का भरोसा करना चाहता है। वह कौनसा शब्द है, यह बालक जानता है क्योंकि उसने लिखते समय ही बार-बार उसका उच्चारण किया था। मूल-मूलाक्षरों के द्वारा बनाए गए शब्दों का वाचन लेखन-विभाग का अंग है, क्योंकि उसके वाचन द्वारा बालक ने जो कुछ लिखा है उसके सही-गलत की परीक्षा करता है। मेरी मान्यता है कि लिखित संज्ञाओं में निहित विचार का अर्थ समझने का नाम है वाचन। चल-मूलाक्षरों के द्वारा टेबिल पर जोड़े गए शब्द को जब बालक पहचान लेता है और उसका अर्थ हमें बता देता है, तभी हम यह कह सकते हैं कि बालक ने वाचन किया है। मुँह से बोले गए शब्द को सुनने में और लिखे गए शब्द का वाचन करने में एक तरह से

एक ही प्रकार की क्रिया की जाती है। दोनों में दूसरों के द्वारा व्यक्त विचार को समझना होता है। एक रीति वाणी द्वारा दूसरों के विचार जानने की है तो दूसरी रीति लिखित का वाचन करके दूसरों के विचार समझने की है। इन दोनों के द्वारा बालक का काम है विचार का वहन धारण करना। अतः जब तक लिखित शब्द में निहित विचारों को बालक ग्रहण नहीं करता, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि वह वाचन करता है।

'यों कहा जा सकता है कि ऊपर वर्णित लेखन स्नायुओं की एक यांत्रिक क्रिया है। वाचन में जब तक बौद्धिक तत्त्व सम्मिलित नहीं होता तब तक सच्चा वाचन नहीं होता। हमारी लेखन-शिक्षण की पद्धति वाचन के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को दूर करती है तथा वाचन के मार्ग को सरल बनाती है या यों कहे कि बालक को वाचन के लिए तैयार करती है। लेखन के द्वारा बालक वह शब्द जिन अक्षरों से जुड़ कर बना है, उनके ध्वनि-समुच्चय को यंत्रवत समझना सीखता है। अर्थात् अक्षरों की पृथक्-पृथक् ध्वनि को साथ-साथ रखें तो कैसा ध्वनि-उच्चार पैदा होता है, यह बात बालक लेखन में आने वाली वाचन-क्रिया के द्वारा समझ लेता है। बालक वाचन करना सीख गया है इसका अर्थ यह है कि जिन अक्षरों से शब्द बना है, उनकी ध्वनियों का वाचन-उच्चारण करना वह सीख गया है। जब बालक चल-मूलाक्षरों से शब्द जोड़ता-लिखता है तो शब्द बनाने के लिए वांछित अक्षर-संज्ञाओं का विचार करने के लिए उसे समय लेना पड़ता है। अतः शब्द पढ़ने में जितने समय की जरूरत पड़ती है उसकी तुलना में वही शब्द लिखने में अधिक समय लगता है।

'जिस बालक को लिखना आता है उसके सामने यदि एकाध शब्द पढ़ने या समझने के लिए रखा जाए तो लम्बे समय तक वह उस शब्द की तरफ चुपचाप देखता रहता है, और तब जिस धीरज के साथ उसने उस शब्द के अक्षर लिखे थे, उसी धीरज के साथ वह शब्द – अक्षर-ध्वनियों को पढ़ता है; अर्थात् उसे लिखने में जितनी देर लगी थी उतनी ही देर पढ़ने में लगती है। लेकिन जब बालक किसी शब्द का स्पष्टता एवं वांछित बलाबल

के साथ उच्चारण करने लगता है, तभी शब्द का अर्थ उसकी समझ में आने लगता है। अब बालक को शब्द पर बराबर बल देना आ सके, इसके लिए उसे शब्द को परख लेना चाहिए, अर्थात् शब्द जो अर्थ व्यक्त करता है, वह उसे जान लेना चाहिए। वाचन के लिए बुद्धि की मदद के बगैर शब्द का रहस्य अर्थात् शब्दार्थ समझ में नहीं आता। इस कारण से वाचन हेतु निम्न क्रम या अनुसरण किया जाना चाहिए। यहां यह बात तो स्पष्ट ही है कि वाचन-लेखन शिक्षण के लिए पुरानी पुस्तकों को शुद्ध तिलांजली दी जा चुकी है।

लिखने के कागज से मैंने ढेर सारी पर्चियां तैयार की। प्रत्येक पर्ची पर मोटे अक्षरों में एक-एक ऐसा शब्द लिखा, जिसे बालक अनेक बार बोल चुके हों तथा जो किसी पदार्थ का सूचक हो (भले ही वह पदार्थ मन्दिर में विद्यमान रहा हो या बालक के लिए सुपरिचित)। यदि पर्ची में लिखा हुआ शब्द किसी प्रत्यक्ष पदार्थ का सूचक हो तो शब्द का उच्चारण कराते समय उससे संबंधित वह पदार्थ बालक की नजरों के सामने रखती हूं ताकि उसे शब्द का अर्थ तत्काल समझ में आ जाए। वाचन की क्रीड़ा के लिए जो वस्तुएं रखी जाती हैं, वे अधिकांशतः खिलौने होते हैं। बालगृह में ऐसे ढेर सारे खिलौने उपलब्ध हैं। इनमें गुड़ियां, गुड़ियाघर, गैंद, पेड़, भेड़ें, तरह-तरह के प्राणी, धातु के बने सिपाही, रेल आदि अनेक वस्तुएं सम्मलित हैं। शब्द लिखने से बालकों की वर्णशुद्धि का अभ्यास होता है, जबकि वाचन द्वारा विचारों का विकास होता है। लेखन एवं वाचन दोनों ही भाषा-विकास के बहुमूल्य साधन हैं।

मैं वाचन की शुरूआत सुपरिचित अथवा सामने विद्यमान वस्तुओं के नामों के वाचन से करती हूं। आसान या कठिन शब्दों के बीच में फर्क नहीं करती। कारण यह है कि इस समय बालक को कोई भी शब्द पढ़ना तो आता ही है, अर्थात् वह वर्ण में विद्यमान ध्वनि का उच्चारण करना जान जाता है। मैं पहले बालक से लिखित अक्षरों की ध्वनि का धीमे-से उच्चारण करवाती हूं। यदि ध्वनि का उच्चारण सही होता है तो मैं उससे कहती हूं :

'जरा जल्दी पढ़ो।' दूसरी बार बालक जरा और जल्दी वाचन करता है, लेकिन अभी उसे उसका अर्थ नहीं आता। मैं एक बार फिर से उसे कहती हूं, 'जरा और जल्दी पढ़ो।' हर बार बालक ध्वनियों के समुच्चय का उच्चारण करते-करते और जल्दी बांचता है और अंत में एकाएक उसके अंतकरण में शब्द का अर्थ प्रकट हो जाता है। मानो उसने अपने किसी मित्र को पहचान लिया हो, इस तरह वह आश्चर्यचकित ऊपर देखने लगता है। उसके चेहरे पर तृप्ति का भाव छा जाता है। इस काम में त्वरा जल्दी आ जाती है क्योंकि बालक को लिखना तो आ ही गया था। इस प्रयोग के पश्चात् बालक को बेकार की अभ्यास पोथी और उबाने वाली नासमझी भरी वर्णमाला की बालपोथी देना मैं उचित नहीं समझती।

बालक शब्द बांच कर उससे सूचित होने वाली वस्तु के पास वह पर्ची रख देता है और इस तरह उसके वाचन की क्रीड़ा सम्पन्न होती है।

वाचन का एक और भी खेल है। एक बड़ी टेबिल पर विविध खिलौने सजा दें। प्रत्येक खिलौने के नाम की एक-एक कतरन तैयार कर लें। उन कतरनों या पर्चियों को समेट कर इकट्ठा कर लें और एक टोकरी में रख दें। अब जिन बालकों को बांचना आता हो उन्हें एक-एक कर बुलाएं और टोकरी में से पर्ची लेने को कहें। प्रत्येक बच्चा पर्ची लेकर अपनी टेबिल पर आए। शांति से पर्ची खोले और आसपास में किसी को बताये बिना मन ही मन पढ़े। चिट्ठी में क्या लिखा था, यह किसी को बताये बगैर उसे वापिस समेट दे। उसे लेकर टेबिल के पास पहुँचे और उसमें लिखा खिलौना उठा ले। इस प्रकार बालक के हाथ की वह पर्ची खिलौना लेने का एक सिक्का बन जाती है। जो बालक खिलौने के नाम का स्पष्ट रूप से उच्चारण करे और पर्ची के अनुसार खिलौने ले, शिक्षक उस बालक को खिलौना लेने देगा तथा जितनी देर तक वह उससे खेलना चाहे खेलने देगा। जब इस तरह प्रत्येक बालक की बारी आ जाएगी तो शिक्षक प्रथम बालक को बुलाएगा और उसे एक अन्य टोकरी में रखी कतरन उठाने को कहेगा। इस दूसरी टोकरी में उन बालकों के नाम पर्चियों पर लिखे होंगे जिनको

बांचना नहीं आता। बालक दूसरी टोकरी में से पर्ची लेकर नाम पढ़ेगा और उसमें जिस बालक का नाम आएगा, उसको अपना खिलौना सौंप देगा। यहां हम अत्यंत सलीके, शान और विनयपूर्वक नमस्कार करके दूसरे बालक को खिलौना दिलाएंगे। ऐसा करके हम कक्षा में ऊंच-नीच और आगे-पीछे के फर्क को भी मिटाएंगे और जिन बालकों को खिलौने नहीं मिल पाए उन्हें खिलौने दिला कर प्रदाताओं के हृदय में प्रेम का भाव पैदा करेंगे। कतरनों या पर्चियों के वाचन का काम अत्यंत व्यवस्थित रीति से चलेगा। हमें एक अचरज की बात देखने को मिली कि जब बालकों को ये पर्चियां अथवा चिट्ठियां बांचना-समझना आ गया तो उन्होंने खिलौने लेने से इन्कार कर दिया और उन्हें लेने की बजाय सीधे-सीधे वे चिट्ठियां बांचने लगे। जब उनसे पूछा गया तो वे बोले : 'खिलौने से खेलने में हमको मजा आता है, पर उनसे भी ज्यादा मजा चिट्ठी बांचने में आता है। हम खिलौने से खेलने में अपना ज्यादा समय गंवाना नहीं चाहते। वाचन की अतृप्ति के भाव से बच्चे एक के बाद एक टोकरी में से पर्ची उठाते और उसका वाचन करते।

जब ये बालक खेलना छोड़कर वाचन कर रहे थे तब मैं इनके हृदय की गहनता में उतर कर इनकी महत्ता जानने का प्रयत्न कर रही थी। इस संबंध में मेरा ज्ञान घोर अंधकार जैसा था। उन बच्चों के बीच बैठे-बैठे उस समय मेरे भीतर यह विचार अंतर्स्फुरित हुआ कि बालक तो इस मूर्खता भरी क्रीड़ा में समय गंवाने के बजाय ज्ञान चाहते हैं। खेलने की बजाय उन्हें ज्ञान अधिक प्रिय है। इस खयाल से मैं आश्चर्यचकित रह गई तथा मानवीय आत्मा की महत्ता पर गंभीरता से विचार करने लगी।

हमने खिलौने तत्काल हटा दिए और सैकड़ों पर्चियां तैयार की। उनमें बालकों, शहरों, वस्तुओं, रंगों तथा इन्द्रियगम्य गुणों के नाम लिखे थे। हमने ये पर्चियां खुले डिब्बों में रख दी, ताकि बच्चे जब चाहें उनका उपयोग कर सकें। मेरी धारणा थी कि वे अपने अस्थिर स्वभाववश कभी एक डिब्बे में से, तो कभी दूसरे डिब्बे में से लेकर चिट्ठियां बांचेंगे। लेकिन नहीं, बच्चे एक डिब्बे से तमाम चिट्ठियां लेकर पढ़ने के पश्चात् ही दूसरे

डिब्बे के पास जाते थे। इस तरह सभी डिब्बों की पर्चियां पढ़ कर अपनी अतृप्त इच्छा को तृप्त करने का प्रयत्न करते थे।

एक दिन मैं स्कूल में आई तो देखा कि अध्यापिका ने सभी बालकों को खुली हवा में छत पर टेबिल-कुर्सियां ले जाने की आज्ञा दी थी। कुछ छोटे बच्चे धूप में खेल रहे थे। कुछ रेजमाल वाले अक्षरों पर उंगली फेर रहे थे तथा चल-मूलाक्षरों के संयोजन से शब्द बना रहे थे। थोड़ी दूरी पर अध्यापिका अपनी गोद में कतरनों से भरा एक छोटा बक्सा लिये बैठी थी और नन्हीं उंगलियां बक्से में से पर्चियां लेने के लिए गति कर रही थीं। अध्यापिका ने मुझे बताया : 'आप मानेगी नहीं, पर एक घंटे से भी अधिक समय से हम यह खेल खेल रहे हैं। पर अभी तक किसी को तृप्ति नहीं हुई। हमने खिलौने, गैंदें, गुड़ियां आदि लाकर रखे, पर उन पर किसी का भी ध्यान नहीं गया। ज्ञान के समक्ष इन क्षुद्र चीजों का कोई महत्व न था।

अब हमारे पास बालकों को किताबें देने के अलावा और कोई चारा नहीं था। उस समय की प्रचलित पुस्तकों में से एक भी पुस्तक मेरी पद्धति के अनुकूल नहीं थी।

बालकों की इस प्रगति से उनकी माताओं को बहुत लाभ हुआ था। हमारे बालक मां के साथ जो वस्तुएं लेने जाते, उसकी सूची स्वयं तैयार कर लेते। कुछ माताओं का कहना था कि पहले तो हमारे बच्चे भाग-भाग कर बाजार जाते थे, पर अब तो सार्वजनिक विज्ञापनों के बोर्ड बांचते-बांचते धीमे-धीमे चलते हैं। बालकों की माताओं का ध्यान इस ओर गया कि उनके बच्चों को पढ़ना आ गया है।

चार वर्ष के एक बालक ने, जिसे निजी स्तर पर इसी पद्धति से शिक्षा दी गई थी, एक बार हमें आश्चर्यचकित कर डाला। उसका पिता डिप्टी था अतः घर पर ढेर सारे पत्र आते थे। उस पिता को यह बात मालूम थी कि विद्यालय में बालक को नई पद्धति से बढ़ाया जाता है, पर वह उस पर जरा-सा भी ध्यान नहीं देता था, न ही उसे इस पद्धति में विश्वास था। एक बार वे श्रीमान बैठे पढ़ रहे थे। बालक उनके पास खेल

रहा था। नोकर अन्दर आया और ताजा डाक का मोटा-सा बंडल टेबिल पर रख गया। नन्हें बालक ने एक-एक कर सभी कागज हाथ में लिए और उनके पते पढ़ गया। उसके पिताजी के लिए तो वह एक अद्‌भुत चमत्कार ही था।

बालक जो करना नहीं चाहता, उसे करने के लिए हम जरूरी समझते हुए भी कहते नहीं। हम उसे उसके लिए आकर्षित ही नहीं करते, न किसी तरह उसे रिझाने-मनाने का प्रयत्न करते। इस वजह से कई बार ऐसा होता है कि जिन-किन्हीं बालकों की वाचन के प्रति स्वयं-स्फुरित इच्छा नहीं होती उन्हें जबरन न सिखाने के कारण लिखना-पढ़ना ही नहीं आता, अथवा देरी से आता है। कई लोग ऐसा मानते हैं कि मुंह से बोली जाने वाली भाषा जब परिपक्व हो जाती है तभी लेखन का काम सिखाया जा सकता है। इस संबंध में मेरा व्यापक अनुभव नहीं है अतः मैं अधिक नहीं कह सकती। पर इसी विचार का अनुसरण करते हुए पुरानी पद्धति बालक को छह वर्ष की उम्र से पूर्ण अक्षरज्ञान कराने से मना करती है, लेकिन हम तो उम्र को लेकर बालक को सीखने से कभी नहीं रोकना चाहते।

जो हो, हमारे विद्यालय के बालक हमारी पद्धति से चार वर्ष की उम्र तक लिखना और पांच वर्ष की उम्र तक पढ़ना सीख जाते हैं। साधारणतया ये बच्चे प्राथमिक शाला की पहली कक्षा में भर्ती हो सकते हैं।

वाक्य-वाचन की क्रीड़ा : जब मेरे मित्रों ने देखा कि बालकों को बांचना आ गया है, तो उन्होंने मुझे सचित्र पुस्तकों का उपहार दिया। जब मैंने परीकथाओं की सारी पुस्तकों पर दृष्टिपात किया तो मुझे लगा कि बच्चे इनको समझ नहीं सकेंगे। शिक्षक मित्रों को हमारे बालकों की शक्ति को लेकर बहुत अभिमान और संतोष था। उन्होंने मेरी मान्यता को गलत ठहराने के लिए प्रयत्न करके देखा। वे मेरे पास कुछ विद्यार्थी (प्राथमिक शाला के तथा मेरी शाला के) लेकर आए और उनसे मेरे सामने किताब बंचवाई। इस तरह उन्होंने यह दिखाया कि हमारे विद्यालय के बालक प्राथमिक विद्यालय के बालकों की बजाय ज्यादा अच्छी तरह वाचन करते

हैं। पर मैं इससे भ्रमित नहीं हुई। मैंने दो प्रयोग करके देखा। मैंने अध्यापकजी से किताब की एक कहानी बालकों को पढ़कर सुनाने को कहा और मैं यह देखने बैठी कि बालकों को उसमें सचमुच (स्वयंस्फुरित) आनंद आता है या नहीं। कहानी के कुछेक शब्द सुनने के बाद बालकों का मन भटकने लगा। मैंने अध्यापकजी को पहले ही कह दिया था कि अगर कोई बालक कहानी न सुने तो उसे जबरन हुकम न दें या ठीक से बैठने को न कहें। कहानी में आनन्द न आने से एक के बाद एक बच्चे उठने लगे और अपनी टेबिल पर जाकर हमेशा वाला काम करने लगे। कमरा बच्चों के कोलाहल से भर उठा। इससे स्पष्ट था कि यद्यपि बालक ये किताबें मजे से बांचते थे, पर उसके अर्थ में वे उतना आनंद नहीं ले रहे थे। सच तो यह था कि लिखित संज्ञाओं को ध्वनि में रूपांतरित करने की उनमें जो नई सामर्थ्य आई थी, वे लोग उसका उपयोग करने में अधिक आनंद ले रहे थे। ऊपर जिन कतरनों या पर्चियों का जिक्र किया गया है उनमें बालकों को जो असाधारण आनंद मिला था, वह परीकथाओं की इन पुस्तकों में नजर नहीं आया, क्योंकि इनमें से बहुत-से शब्द उन्हें आते नहीं थे।

मैंने दूसरा प्रयोग इस प्रकार किया। एक बालक को मैंने अपने पास बुलाया और उससे किताब पढ़वाई। जब बालक कहानी पढ़ते हैं, उस समय कहानी के सूत्र का पता ज्ञात करने के लिए पुरानी पद्धति का शिक्षक जिस प्रकार की मदद करता है ('क्षण भर रुकना! तुम समझे? क्या समझे? तुमने कहा कि एक बड़ी गाड़ी में छोटा-सा बालक घूमने निकला। ठीक! ध्यान में आया? अब तुम आगे पढ़ो। किताब में आगे क्या लिखा है?' आदि-आदि), वैसी मदद मैंने नहीं की बालक के हाथ में किताब देकर मैं उसके पास मित्र की तरह बैठी थी। जब बालक पढ़ रहा था, तब मैंने अत्यन्त गंभीरता और सरलता से एक मित्र की भांति उससे पूछा : 'तुम जो पढ़ रहे थे, उसमें कुछ समझे?' उत्तर मिला–'नहीं।' बालक के चेहरे पर जो भाव देखने को मिला उससे मैंने यही समझा कि वह मेरे प्रश्न का कारण जानना चाहता था। अभी बालक को दूसरों द्वारा लिखे हुए विचार भाषा द्वारा समझने की शक्ति प्राप्त नहीं हुई थी। दूसरों के बहुविध विचारों को

शब्द-समूह के वाचन से जाना-समझा जा सकता है। अर्थात् वाचन का आनंद अभी हमारे बालकों के लिए भविष्य के गर्भ में था।

'पुस्तक का भाषा के अर्थ से सम्बन्ध होता है, न कि भाषा के यांत्रित शरीर से। बालक पुस्तक पढ़कर उसका आनंद प्राप्त करे, इससे पूर्व उसमें वस्तु को समझने की शक्ति आनी चाहिए। जो फर्क शब्दों के उच्चारण में तथा व्याख्यान करने में है वही फर्क पुस्तक के शब्द बांचने और उन्हें समझ के साथ पढ़ने में है! इस खयाल से मैंने पुस्तक का वाचन बंद करा दिया और सोचने लगी कि अब क्या किया जाए! एक दिन दोपहर के समय मैं बालकों के साथ बातचीत कर रही थी। यकायक चार बालक खड़े हुए। दौड़ते-दौड़ते श्यामपट्ट के पास गए और उस पर लिखा –'अहा! मेरा बाग फूलों से खिलने लगा है। इससे हमें बहुत खुशी हुई।'

'मैं आश्चर्य में डूब गई। जिस तरह उन्होंने पहले स्वयं-स्फुरण से पहला शब्द लिखा था, उसी तरह स्वयं-स्फुरणा से उन्होंने यह पहला वाक्य लिखा था! मुझे लगा कि ये बच्चे निबंध-लेखन के स्तर पर पहुंच गए हैं। उन्हें वाक्यों के वाचन की तरफ ले जाने का समय आ गया था। जो साधन बालकों ने अपनाया, मैंने भी वही अपनाया। मैंने श्यामपट्ट पर लिखा : 'तुम मुझे चाहते हो।' बालकों ने धीमे और जोर से पढ़ा। मानो वे कुछ सोच रहे हों, इस तरह से शांत रहे और बोल उठे : 'हां-हां!' मैंने लिखना जारी रखा : 'तब शांत हो जाओ और मेरी तरफ देखो।' इस वाक्य को उन्होंने जोर-जोर से गला फाड़ते हुए पढ़ा, लेकिन ज्योंही यह वाक्य पूरा हुआ, कि पूरे कमरे में गंभीर खामोशी छा गई। मात्र कुर्सी की खट-पट से कहीं-कहीं शांति भंग हो रही थी। इस प्रकार लिखित भाषा के द्वारा मेरे और बालकों के बीच व्यवहार शुरू हुआ। उन्हें बड़ा मजा आया। धीरे-धीरे उन्हें लेखन की महत्ता का जबर्दस्त जादू समझ में आया। उन्हें लगा कि लेखन के द्वारा भी विचार व्यक्त हो सकते हैं। इसके बाद जब-जब भी मैं लिखती थी, तब-तब एक भी शब्द नहीं बोलती थी। फिर भी जो कुछ मैं लिखती थी उसे जानने के लिए बालक मेरे समक्ष उत्सुकतापूर्वक देखते रहते थे। सचमुच लिखित भाषा को वाणी की जरूरत नहीं पड़ती। उल्टे, जब वाणी का कार्य बंद कर देते हैं,

तभी हमें पता लगता है कि लेखन में कितनी अधिक शक्ति निहित है, इसीलिए मैंने निम्न क्रीड़ा शुरू की। बालकों को इसमें बहुत आनंद आया।

मैंने कुछ गत्तों पर लम्बे-लम्बे वाक्य लिखे। ये वाक्य बालकों की क्रियात्मक वृत्ति को प्रेरित करने योग्य थे। उदाहरणार्थ :

'खिड़की के पर्दे बंद कर दो। पहला दरवाजा खोल दो। कुछ देर रुको और सारी चीजें पहले की तरह जमा दो।'

'अपने आठ मित्रों से नम्रतापूर्वक कहो कि वे कुर्सियों से खड़े होकर कमरे के बीचों-बीच दो-दो के समूह में खड़े हो जाएं और फिर बिना आवाज किए पंजों के बल आगे और पीछे कूच करें।'

'अपने बड़ी उम्र के मित्रों में से जो गीत गा सकें, उनसे कहो कि कृपया कमरे के बीचों-बीच खड़े हों। उन्हें एक सुन्दर घेरे में खड़ा करो और जो गीत तुमने चुना हो, उनके साथ मिलकर गाओ।'

'जैसे ही मैंने वाक्य लिखे कि बालक तत्काल गत्ते उठा ले गए और अपने स्थान पर जाकर अत्यंत एकाग्रता से उन्हें पढ़ा। सर्वत्र शांति का साम्राज्य था। मैंने उनसे पूछा : 'तुम समझ गए?' उत्तर मिला –'हां, हां!' मैंने कहा –'तब, गत्ते जो कहते हैं, वही करो।' उन्होंने उत्साह एवं आनंदपूर्वक गत्ते पर लिखे वाक्यों पर अक्षरशः अत्यन्त सावधानी से अमल किया। पूरी कक्षा में एक नई प्रवृत्ति, एक नई हलचल शुरू हो गई थी। कई बालक खिड़की के पर्दे ढकने-उघाड़ने में लगे थे। कुछ अन्य बालक अपने मित्रों को पंजों के बल दौड़ा रहे थे, गीत गवा रहे थे या आलमारी से चीजें ले रहे थे। आश्चर्य और कुतूहल का वातावरण शांति रच रहा था। पाठ में बड़ा मजा आ रहा था। मानो मेरे भीतर विद्यमान किसी जादुई तत्त्व ने बाहर निकल कर अब तक अज्ञात रहने वाली किसी नई प्रवृत्ति को जन्म दिया था। यह जादू था लिखित भाषा का ज्ञान।

'इस नई शक्ति के महत्व को बालक भलीभांति आंकने में सक्षम थे। इस खेल को खेलने के पश्चात् जब मैं बाहर गई, तो बालकों ने मुझे

घेर लिया। उनके चेहरे पर उपकार तथा प्रेम के भाव तैर रहे थे। मानो वे मुक्त कंठ से कह रहे थे कि 'हम उपकृत हैं', 'हम उपकृत हैं।'

'यह खेल बालकों को बहुत प्रिय लगा। पहले हम कमरे में गंभीर शांति स्थापित करेंगे, फिर कतरनों, समेटी हुई चिट्ठियों से भरी टोकरी बालकों को देंगे। टोकरी के अन्दर रखी प्रत्येक पर्ची पर कोई न कोई क्रिया-प्रेरक शब्द लिखा होगा। जिन बालकों को बांचना आता है वे टोकरी में से पर्चियां लेंगे और जब तक उनका अर्थ भलीभांति समझ में न आ जाए तब तक एक या एकाधिक बार मन ही मन बांचेंगे। इसके पश्चात् बालक वह पर्ची शिक्षिका को दे देंगे तथा उसमें सूचित क्रिया करने लगेंगे। ऐसी भी क्रियाएं करनी होती हैं कि जिनमें बालकों को विविध वस्तुएं रखनी-उठानी व उपयोग में लानी होंगी। इस प्रकार कक्षाकक्ष में सुव्यवस्था के साथ-साथ प्रवृत्ति का वातावरण खिल उठेगा। उस समय की शांति का भंग सिर्फ नाजुकता से दौड़ने वाले नन्हें पैरों तथा कंठ के सुरीले स्वरों द्वारा ही होगा। स्वयं-स्फुरित सुनियमन का यह एक सम्पूर्ण एवं अपेक्षित परिणाम-दर्शन है।

'अनुभव बताता है कि जिस प्रकार शब्द-वाचन से पूर्व लेखन की जरूरत थी, उसी प्रकार समझदारीपूर्ण वाचन से पूर्व-कंपोजिशन (चल-मूलाक्षरों से शब्द संयोजन) की जरूरत है। अनुभव से यह भी ज्ञात हुआ है कि यदि समझदारी का वाचन सिखाना हो तो वह मन ही मन होना चाहिए, जोर-जोर से नहीं।'

मूखवाचन में भाषा-लेखन एवं वाचन के यांत्रिक स्वरूपों का समावेश होता है, अर्थात् वाचन की क्रिया में लिखित भाषा को समझना होता है तथा उसे वाणी द्वारा व्यक्त करना होता है। इसी कारण यह काम जरा उलझन भरा है। हम जानते हैं कि बड़ी उम्र के व्यक्ति को भी प्रकट रूप में जब कोई व्याख्यान बांचना होता है तो उसे अपने कार्य के लिए विषयवस्तु से भली-भांति परिचित होना पड़ता है तथा पूर्व तैयारी करनी पड़ती है ताकि वाचन का काम आसान हो। मूखवाचन एक अत्यन्त कठिन

बौद्धिक कार्य है। अतः जिस बालक को समझते हुए वाचन करने की शुरूआत करनी है उसे मन ही मन में वाचन करना चाहिए। लिखित भाषा में से जब विचार को समझना हो तब उसे वाणी के प्रदेश से अलग रखा जाना चाहिए। लिखित भाषा विचार को दूर-दूर तक पहुंचा सकती है। उसके माध्यम से जिन-जिन लोगों को बांचना आता है, उन सबके मध्य एक सुन्दर व्यवहार स्थापित हो जाता है। इसी में इस वाचन की महत्ता है।

'ऐसे संस्कारों से मंडित बालकों की पूर्व प्राथमिक शाला लगभग नए सिरे से रचनी होगी। वर्तमान प्राथमिक शालाएं इस नई पद्धति द्वारा संस्कारित बालकों के लिए उपयोगी नहीं रहेंगी। प्राचीन पद्धति वाली पुरानी शालाएं नवीन पद्धति का कैसे उपयोग कर सकती हैं, यह प्रश्न यहां नहीं उठाया जा रहा है। अभी तो मैं इतनी ही बात कह सकती हूं कि बालगृहों के शिक्षण से प्राथमिक शाला के प्रथम वर्ष का अध्यापन अपने आप समाप्त हो जाता है।

'भावी प्राथमिक शालाओं के वर्गों की शुरूआत लिखने-बांचने की क्षमता से युक्त बालकों से होनी चाहिए। ये बच्चे हमारी पद्धति से लेखन-वाचन सीखे हुए होंगे। ये बालक ऐसे हों कि जिन्हें स्वयं को संभालना आता हो, जिन्हें कपड़े खोलने-पहनने आते हों। जिन्हें मुंह-हाथ भली-भांति धोना आता हो, जिन्हें सदाचार के नियमों तथा विनय-विवेक का ज्ञान हो, जिन्होंने आजादी के वातावरण में रहते हुए स्वयं पर स्वामित्व प्राप्त किया हो तथा इसके परिणामस्वरूप जो उत्तम रीति से सुनियंत्रित हों। ये बालक ऐसे हों कि उक्त शक्ति के साथ-साथ जिनका शुद्ध वाणी पर नियंत्रण हो ऐसे बालकों का स्वागत करने तथा उन्हें विकास के आगामी सोपान तक पहुँचाने के लिए हमें उत्तम प्राथमिक विद्यालय स्थापित करने चाहिए। ये विद्यालय बालकों की स्वतंत्रता एवं स्वयंस्फूर्ति के विचारों का वफादारी से सम्मान करेंगे। ऐसे विद्यालय भविष्य के गर्भ में हैं।

'अब पांच वर्ष की उम्र के बालक द्वारा कलम से लिखे पाठ का एक उदाहरण प्रस्तुत करके यह प्रकरण पूरा कर रही हूं—

'हम प्रिंसेज मेरिया तथा एडवार्डो टालमो सिविल इंजीनियर को ईस्टर की मुबारकवाद देना चाहते हैं। हम उनके सुन्दर बालकों को यहां लाने का निमंत्रण देंगे। यह काम मुझको सौंपे। मैं आपकी तरफ से लिखूंगा।' 7 अप्रेल 1909 □

प्रकरण तेरहवाँ

गणित का शिक्षण

मोंटेसरी शाला में भर्ती होने वाले दो-तीन वर्ष की आयु के बालकों को दो या तीन तक की गिनती तो आती ही है। वहाँ से वे बड़ी ही आसानी से गिनना सीख जाते हैं। शुरू-शुरू में गिनती का शिक्षण वस्तुएँ गिना कर कराया जाता है। गणित शिक्षण के लिए ऐसी एक नहीं, इक्कीस विधियां हो सकती हैं। हमारे जीवन में गिनती के अनेक प्रसंग आते हैं, जिनका हमें उपयोग कर लेना चाहिए। उदाहरणार्थ बालक की कमीज के बटन देखकर माता कहती है : 'देख, तेरी कमीज में दो बटन कम हैं,' अथवा 'तीन थालियां और चाहिए।'

इस प्रकार के खेल के लिए नए सिक्के अत्यन्त आकर्षक होंगे अथवा कार्डबोर्ड के सिक्के नए सिक्कों के ही आकार-प्रकार के हों, तो चलेंगे। फिर रुपयों के लेन-देन और सराफी के खेल बच्चों को बहुत अच्छे लगते हैं। प्रचलित सिक्कों की गणना करना और उनकी लेन-देन का खेल बालकों का पसंद का खेल होता है क्योंकि वे सिक्कों का उपयोग होते देखते हैं।

उक्त रीति से दस तक सिखाने के बाद बालक को दस तक का शास्त्रीय ज्ञान देना चाहिए। इसके लिए प्रबोधक साहित्य में से लंबी सीढ़ी को काम में लाया जाना चाहिए।

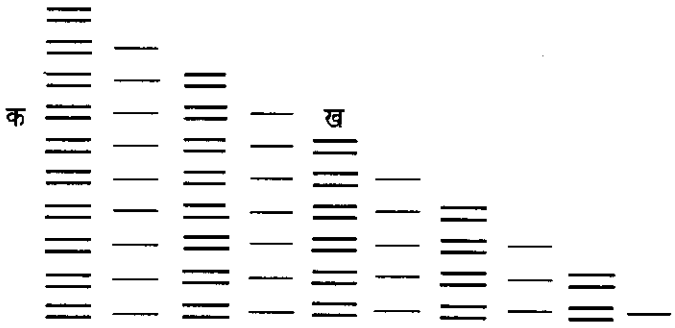

इन दस लम्बी लकड़ियों में से सबसे छोटी लकड़ी 1 डेसीमीटर की है और सबसे बड़ी लकड़ी एक मीटर की। इन लकड़ियों पर एक नीला, एक लाल –ऐसे लाल-नीले पट्टे हैं। प्रत्येक पट्टा 1 डेसीमीटर का है।

```
1
1  2
1  2  3
1  2  3  4
1  2  3  4  5
1  2  3  4  5  6
1  2  3  4  5  6  7
1  2  3  4  5  6  7  8
1  2  3  4  5  6  7  8  9
1  2  3  4  5  6  7  8  9  10
```

जब बालक को लंबी सीढ़ी लंबाई के क्रम से जमाना आ जाए तो उसके पास ही उसी क्रम से लंबी सीढ़ी जमवाई जाए। तब हम उससे लाल और नीली पट्टियां गिनवाएं। यथा –एक; एक, दो; एक, दो, तीन आदि। पहले छोटी लकड़ी से शुरूआत करें। हर बार, प्रत्येक लकड़ी को गिनते समय उसे लकड़ी के पहले पट्टे से शुरू करें। शुरूआत 'क' दिशा से करें। जब बालक को इस तरह करना आ जाए (बालक को पहले से ही ऊटपटांग गिनना आता है अतः यह काम जल्दी ही आ जाएगा।) तो छोटी लकड़ियों से लम्बी लकड़ियों तक के नाम बालक से ही बुलवाए जाएं। प्रत्येक लकड़ी का नाम उस पर खिंची लकीर के नाम पर रखें। यथा–जिस लकड़ी पर नौ पट्टे हों उसे नौ कहें और जिस पर पांच पट्टे मंडे हों उसे पांच कहें। जिस दिशा में सीढ़ी के पाये उतरते जाएं अर्थात् 'ख' दिशा में बालक प्रत्येक लकड़ी का स्पर्श करें और उसका नाम बोलें। शुरूआत एक पट्टे वाली लकड़ी से करें। इस कारण जिस तरह लंबी सीढ़ी को गिनते समय 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10 गिने थे वैसे ही पहली सीढ़ी से दसवीं सीढ़ी तक जाते समय भी दस ही गिने जाएंगें। अब कितनी लकड़ियां हैं, यह देखने के लिए 'क' दिशा से उन्हें गिनें, तो नतीजा यह आएगा –अर्थात्

1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10 इस तरह तीनों तरफ दस गिन जाएंगे। बालक अपने दस तक के संख्या ज्ञान को परिपक्व करने के लिए आनंदपूर्वक यह खेल खेलता रहेगा। दस का खेल खेलने के बाद वह नौ का खेल खेलेगा। प्रत्येक बालक को उसमें आनंद आएगा। इसके पश्चात् बालक को दूसरा खेल खेलाया जाए। एक दरी पर लम्बी सीढ़ी वाली लकड़ियों को इकट्ठा करके रख दें। अध्यापक उसमें से एक लकड़ी उठाएगा और बालक से उस पर अंकित पट्टियां गिनवाएगा। यथा–वह पांच की लकड़ी लेगा और बालक से कहेगा : इस लकड़ी की लम्बाई के बाद की लम्बाई वाली, अर्थात् इससे कुछ लम्बी लकड़ी लाओ। चूंकि इससे पूर्व के खेल में बालक की आंखों को अभ्यास हो चुका है अतः वह वांछित लकड़ी ला देगा। तब शिक्षक पांच की लकड़ी के पास छह की लकड़ी रखाएगा और उसकी पट्टियां गिनवाएगा और उसे आश्वस्त करेगा कि किस लंबाई के साथ कौनसी लंबाई जुड़ी हुई है। यह खेल खेलते-खेलते बालक को प्रत्येक लकड़ी की संख्या आंखों से देख लेना आ जाएगा। हमें लकड़ी को उस पर अंकित पट्टियों की संज्ञा देनी होगी। यथा-हम कहेंगे 'एक वाला टुकड़ा', 'दो का टुकड़ा' आदि। इस तरह अंत में हम एक, दो, तीन ही कहने लगेंगे। जब बालक से दस का टुकड़ा लाने को कहें तो वह दस का टुकड़ा ही लाए और जब उसे पांच का टुकड़ा लाने को कहें तो पांच का ही लाए –इतना अभ्यास कराया जाना चाहिए।

इस समय तक यदि बालक अक्षर लिखना सीख चुका हो तो रेजमाल के बनाए अंकों का प्रयोग करते हुए उसे संख्या-वाचन का ज्ञान कराया जाए। इसके लिए हमने अक्षर सिखाने में जो पद्धति काम में ली थी, वही काम में ली जाए। (सेगुइन के तीनों चरणों का प्रयोग)। यह 'एक' है, यह 'दो' है। 'एक दो', 'दो-दो।' 'यह क्या संख्या है?' 'यह कितने का अंक है?' आदि। बालक अंक के ऊपर उंगली फेरे और संख्या पढ़ना सीखे।

जब यह हो जाए तो संख्या की संज्ञा और समूह का संबंध बताना चाहिए। इसके लिए दो बक्से हैं। प्रत्येक बक्से में पांच-पांच खाने हैं।

प्रत्येक खाने की पीठ पर हमारी आंखों से देखे जा सकें, इस तरह संख्या के दस कार्ड रखे गए हैं। पहले बक्से में 0, 1, 2, 3, 4 और दूसरे बक्से में 5, 6, 7, 8, 9 के कार्ड चिपकाए गए हैं। बालक बक्से के खाने पर जो संख्या लिखी है, उतने पदार्थ लेकर उस संख्या वाले खाने में रखेंगे। यथा, पांच वाले खाने में पांच कौड़ियां, पांच गोलियां या पांच कूमचे (इमली के बीज) रखेंगे।

बालक की रुचि बनाए रखने तथा विविधता के लिए उसे तरह-तरह की चीजें दी जा सकती हैं। लकड़ी के गोटीनुमा टुकड़े काम में लाने ठीक रहते हैं। पर वे एक तरफ से सपाट होने चाहिए, ताकि कहीं लुढ़क न जाएं। बालक गोटियों के ढेर में से संख्यानुसार गिन कर गोटियां लेता जाए और बक्से के खानों में रखता जाए और जब बक्सा भर जाए तो उसे लेकर अध्यापिका के पास जाए।

बालक गोटियां रखते-रखते '0' वाले खाने के पास जब आएगा तो सोचकर उलझन में पड़ जाएगा और पूछेगा कि 'इस खाने में क्या रखूं?' तो उसे कहना होगा कि 'कुछ नहीं!' 'शून्य अर्थात् कुछ नहीं।' पर कई बार इस तरह कहने पर भी बालक समझता नहीं। हम कई बार 'कुछ नहीं' कह देते हैं, इसका सही अर्थ समझाना पड़ता है। बालक को 'कुछ नहीं' का अनुभव कराना पड़ता है। इसके लिए एक खेल खेलाना चाहिए। यह रोचक खेल है। अध्यापिका बालकों के समक्ष खड़ी रहे और कहे–'देखो, मैं तुमसे जितनी बार मेरे पास आने को कहूं, तुम उतनी ही बार चले आना।' वह कहेगी–'देख राम! तू शून्य बार मेरे पास आ।' बालक पास आएगा और वापिस जाएगा तो वह पूछेगी –'तुम तो एक बार मेरे पास आए, जबकि मैंने तुम्हें '0' बार आने को कहा था।' बालक कहेगा–'तो मुझे क्या करना चाहिए।' शिक्षिका कहेगी –'तुम कुछ मत करो। शून्य का अर्थ है कुछ नहीं। बालक पुनः पूछेगा–'लेकिन कुछ नहीं को मैं कैसे करूं?' शिक्षिका समझाएगी –'कुछ न करो। बिना हिलेडुले बैठे रहो। तुमको एक बार भी नहीं आना है। शून्य बार अर्थात् एक बार भी नहीं।' जब तक

बालक को कुछ नहीं का अर्थ समझ में न आ जाए, तब तक यह अभ्यास चलता रहना चाहिए। फिर तो बच्चों को बहुत आनंद आने लगेगा। जब उनसे यह कहेंगे कि 'शून्य बार आओ' तो वे हँसने लगेंगे और उनका मनोरंजन होगा।

जब बालक लिखी हुई संख्या पढ़ने लगे और उसका मूल्य समझ जाए तो उसे नीचे लिखा खेल खेलाया जाए। कागज की पर्चियों पर संख्याएं लिखें, उन्हें मोड़ कर एक टोकरी में रख दें। बच्चे एक-एक कर आएं और पर्चियाँ उठाकर उन्हें खोलें। उसे पढ़ें और पर्ची जैसे मुड़ी थी वैसे ही वापिस मोड़कर अपनी टेबिल पर रख दें। फिर विविध वस्तुओं यथा–कौड़ियों, गोलियों, गोटियों आदि के पास जाकर पर्ची में जितनी संख्या लिखी थी, उतनी गिन कर उठा ले। वे चीजें हाथ में लेकर दो-दो की कतार में टेबिल पर रखें। अगर संख्या एकी हो तो जो चीज बढ़े उसे दो वस्तुओं के बीच में रख दे। सजावट इस प्रकार दिखाई देगी।

0	0	0	0	0	0	0	0	0	0
×	××	××	××	××	××	××	××	××	××
		×	××	××	××	××	××	××	××
				×	××	××	××	××	××
						×	××	××	××
								×	××

यह खेल दस संख्या तक है। बालक अपनी खोली हुई पर्ची को सजाई हुई वस्तुओं के सामने ही रखेंगे, ताकि अध्यापकजी बालक के काम का भली-भांति अवलोकन कर सकेंगे। संख्याओं की याददाश्त दृढ़ कराने के लिए यह एक अच्छा खेल है। बालक को पर्ची बांचने के पश्चात् वस्तुएं सजाने तक जो क्रियाएं करनी पड़ती हैं उनमें स्मृति का शिक्षण निहित है।

यह खेल बच्चों को बहुत पसंद है। इसमें संख्या-ज्ञान का पुनरावर्तन है, साथ ही इसमें क्रियाशक्ति का शिक्षण है। इतना हो जाने के पश्चात् 1 से 20 तक की जोड़-बाकी करानी चाहिए।

गणित का प्रारम्भिक शिक्षण देने के लिए इन्द्रिय-शिक्षण में प्रयुक्त की जाने वाली लंबी सीढ़ी एक अच्छा साधन है। जैसा ऊपर वर्णन हुआ है, बालकों को प्रत्येक लकड़ी और उस पर खिंची पट्टियों की संख्या के नाम से उनकी पहचान करना आ गया है। उन्हें पहले लम्बाई के क्रम से रखा जाए और यही क्रम संख्याओं का है। जोड़ में प्रथम चरण में छोटी लकड़ियों को लंबी लकड़ियों के पास इस प्रकार से रखा जाना चाहिए कि दोनों की पट्टियां मिलकर दस की जोड़ पूरी हो जाए। एक वाली छोटी लकड़ी के अनुक्रम से ऊपर से लकड़ियां हटाते जाएं और नीचे से नौ की लकड़ी के साथ रखते जाएं। साथ ही साथ उन्हें कहते भी जाएं : 'एक लो और उसे नौ में मिलाओ।' 'दो लो और उसे आठ में मिलाओ।' 'तीन लो और सात में मिलाओ।' 'चार लो और छह में मिलाओ।' इस तरह हम चार लकड़ियां दस की बनाएं। लेकिन पांच के पांच की लकड़ी न रखें, बल्कि पांच की लकड़ी को उलट कर रखवा दें, तो वह दस की लकड़ी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बराबरी में जाएगी और बालकों को पता लग जाएगा कि दस बनने के लिए पांच दो बार आते हैं। यह खेल बार बार चलेगा तो धीरे-धीरे बालक गणित की परिभाषा से सुपरिचित हो जाएंगे। नौ में एक बढ़े तो दस, छह में चार बढ़े तो दस, सात में तीन बढ़े तो दस, आठ में दो बढ़े तो दस और दो बार पांच आए तो दस। जब बालक लिखना सीख जाता है तो बराबर और गुणा भी लिखना सीख जाता है। वे अपनी कापी में इस प्रकार लिख कर बताएंगे :

9+1 = 10
8+2 = 10
7+3 = 10 5×2 =10
6+4 = 10

जब उक्त रीति से बालक जोड़ना सीख जाएं तब उन्हें बाकी निकालना सिखाना चाहिए। ऊपर बताए अनुसार दस-दस की चार लकड़ियां लें। पहले दस में से चार हटा लें और उनकी सही जगह रख दें तो छह रहेंगे; तीन हटा लें तो सात रहेंगे, दो हटा लें तो आठ रहेंगे और

एक हटा लें तो नौ रहेंगे। साथ-साथ मुंह से बोलते भी जाए कि दस कम चार बराबर छह; दस कम तीन बराबर सात, दस कम दो बराबर आठ, दस कम एक बराबर नौ। बाकी रहे पांच। पांच दस का आधा है। अतः लम्बी सीढ़ी को दो का भाग देने से बराबरी के दो भाग होंगे। इन्हें इस प्रकार लिखेंगे :

10-4 = 6
10-3 = 7
10-2 = 8 10÷ 2 =5
10-1 = 9

बालक एक बार इन्हें सीख जाता है तो अपने-आप तरह-तरह के खेल खेलने लगता है। उदाहरणार्थ वह यों सोचेगा। क्या हम दो लकड़ियों से तीन का उत्तर ला सकते हैं? 2+1=3 क्या हम दो लकड़ियों से चार बना सकते हैं? 3+1=4 तथा 4-3=1; 4-1=3 हम बालक को यह भी बताएं कि जैसा पांच की लकड़ी से दस का संबंध है वैसे ही दो का चार के साथ है, अर्थात् दो को उलटा कर बताएं कि चार यों बनते हैं। दो बार दो चार के बराबर होते हैं अर्थात् 4÷2, 2×2×4, यही खेल तीन और छह के बारे में तथा चार और आठ के बारे में खेलाएं--अर्थात्

2×2=4, 3×2=6, 4×2=8, 5×2=10, 10÷2=5, 8÷2 =4, 6÷2 =3, 4÷2 =2

यहां ऊपर हमने संख्या-स्मृति के लिए जो खेल खेलाया था वह काम में आएगा –

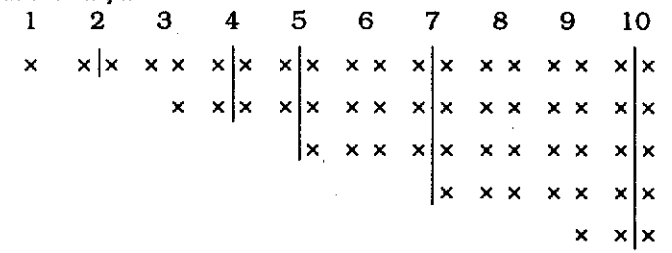

उपर्युक्त सारिणी से हमें यह ज्ञात होता है कि कौनसी संख्या को दो से विभाजित किया जा सकता है, अर्थात् जिस संस्था के नीचे एकी × नहीं है, उसे दो से विभक्त किया जा सकता है। ये दोकी संख्या है क्योंकि इनको दो-दो की पंक्तियों में सजाया जा सकता है। इन्हें दो से विभक्त करना आसान है क्योंकि इन पंक्तियों को एक लकीर द्वारा अलग-अलग करके देखें तो विभाजक-संख्या निकल आती है। प्रत्येक पंक्ति में जितनी संख्याएं हैं, उन्हें गिनने से भाजक संख्या आ जाती है।

यह सब जानना पांच वर्ष के बालक के लिए कोई कठिन काम नहीं है। इसी प्रकार 10 के पास 1 रख कर ग्यारह, 10 के पास 2 रख कर बारह–इस प्रकार बीस तक का ज्ञान दिया जा सकता है। दस तक जान लेने के पश्चात् बीस तक जाने में मुश्किल नहीं पड़ती।

दशक पद्धति : दस से आगे की संख्याएं सिखाने के लिए कुछ चौकोर कार्डों की साधन रूप में जरूरत पड़ेगी। प्रत्येक कार्ड पर बड़े अक्षरों में 10 की संख्या लिखी जाए। इन चौकोर कार्डों से छोटे आकार में (लगभग आधे) कुछ लम्बे-चौकोर कार्डों की जरूरत पड़ेगी। इनमें से प्रत्येक कार्ड पर 1, 2, 3 से लेकर 9 तक के अंक लिखे जाएं। इन्हें हम एक पंक्ति में सजा लें–1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10 अब इनसे आगे अंक नहीं हैं, अतः हमें फिर से 1 का अंक लेना होगा। जब हम नौ की लकड़ी के आगे दस की लकड़ी रखेंगे तो दस की लकड़ी का एक पट्टा नौ की लकड़ी से बाहर निकला दिखाई देगा। उसके जैसे ही हमने जो ऊपर 1 लिया था, वह है, लेकिन यह 1 पहले वाले एक के अंक से आकार में बड़ा है, अतः उसको पहले वाले 1 से अलग दिखाने के लिए उसके आगे शून्य लगा देंगे। क्योंकि बिन्दु या शून्य अर्थात् कुछ नहीं। इस प्रकार दस बने। दस की बिन्दी पर एक के बाद एक 1, 2, 3, 4, 5 आदि कार्ड रखेंगे तो 11, 12, 13, 14, 15 .....19 आदि अंक बनेंगे। दस की लकड़ी के पास 1 की लकड़ी रखने से 11 होगा, दस की लकड़ी के आगे 2 की लकड़ी रखने से 12 होंगे, आदि-आदि। दस के आगे नौ की लकड़ी रखने

से लकड़ी बहुत बड़ी हो जाएगी। उस पर खिंचे लाल, नीले पट्टे गिनें तो 19 होते हैं।

अब शिक्षक बालक को कार्ड दिखाएगा। वह 16 का कार्ड दिखाएगा तथा 6 की लकड़ी 10 की लकड़ी के साथ रखेगा। तब 6 का कार्ड हटा कर 0 के ऊपर 8 का कार्ड रखेगा ताकि बालक 6 की लकड़ी हटा ले और 8 की लकड़ी रखे जिससे अठारह का अंक बने। इन क्रियाओं को इस प्रकार लिखा जा सकता है : 10+6=16, 10+8=18 इसी प्रकार बाकी की जा सकती है।

जब बालक को संख्या का अर्थ भली-भांति समझ में आ जाए तब आगे गिनती का खेल शुरू किया जाए।

10		10		11		
10		20		12		
10		30		13		
10		40		14		
10	क	50	ख	15		
10		60		16		
10		70		17		
10		80		18		
10		90		19		
10		100		20		

यहाँ बायीं तरफ जैसी सारिणी बनाई गई है वैसी कार्ड-बोर्ड की दो तख्तियां क और ख बना ली जाएं। इनके साथ 1 से 9 तक लिखे अंकों के लम्बे-चौकोर कार्ड रखे जाएं। तब इस प्रकार सिखाएं। क तख्ती में प्रथम दस के अंक की बिन्दी पर 1 का कार्ड रखें, उसके नीचे 2 से लेकर 9 तक रखते जाएं तो परिणाम यह आएगा, जो दायीं ओर के ब्लॉक में दर्ज है।

तब ख तख्ती पर 10 के अंक की बिन्दी पर 9 का अंक रखें ताकि 19 हो, उसके नीचे 20 तो है ही, अब आप 20 की बिन्दी पर 9 का अंक लिखें तो 29 होगा। इसी तरह 99 तक लिखा जा सकेगा।

इस तरह बालक 100 तक लिखना सीख जाएंगे। □

प्रकरण चौदहवाँ

चित्रकला

(1)

वाचन-शिक्षण में जो स्थान वर्णमालाओं का है वही स्थान चित्रकला में आंख तथा हाथ का हैं। चित्रकला की सम्पूर्णता एवं सफलता का आधार आंख एवं हाथ की सही शिक्षा और तैयारी पर निर्भर है। जिस प्रकार अनपढ़ बालक अपने विचारों को लिख कर व्यक्त नहीं कर सकता : उसी प्रकार इन दोनों साधनों के अभाव में बालक चित्र द्वारा अपनी आत्मा को व्यक्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार जो बालक लिख नहीं सकता, उसके हस्ताक्षरों का अध्ययन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जिस बालक के हाथ में चित्र बनाने का नियंत्रण नहीं, और आंख में चित्रों का संतुलन नहीं, सौंदर्य एवं प्रसंग आदि देखने की शक्ति नहीं, उस बालक के चित्रों – सिर्फ लकीरों–का शास्त्रीय अध्ययन नहीं किया जा सकता। जहां तलक बालक की सृजनशक्ति एवं वृत्ति को मूर्त्त रूप देने के स्थूल साधनों का पर्याप्त विकास नहीं हो जाता, तब तक बालक की वास्तविक सृजनशक्ति को समझना लगभग असंभव ही है।

अंतरात्मा को प्रकट करने की स्थूल सामग्री की परिपूर्णता पर ही सृजनशक्ति का सच्चा अविर्भाव दृष्टिगत होता है।

चित्रकला की प्राथमिक तैयारी के रूप में बालक में निम्नांकित शक्तियों का विकास होना चाहिए।

1. रूप एवं रंग पहचानने की शक्ति।

2. रंग तथा छाया रंगों की उत्तम रीति से प्रशंसा करने की और उसका आस्वादन करने की शक्ति, साथ ही रूप तथा रंग के बीच भेद परखने की शक्ति।

3. मनमर्जी के अनुसार रेखाएं खींचने की हाथ की शक्ति।

जब तक इन तीनों प्रकार की शक्तियों का एक समान तथा सुन्दर विकास नहीं हो जाता तब तक बालक चित्रकला के प्रदेश में प्रवेश नहीं कर सकता।

रूप को पहचानने की क्षमता : इस क्षमता का विकास प्रथम खंड में वर्णित इन्द्रिय-विकास के प्रकरण में दृश्येन्द्रिय के शिक्षण हेतु जो साधन प्रयुक्त किए गए हैं, उनके द्वारा संभव हो सकता है। गट्टा पेटियां, मीनारें, चौड़ी सीढ़ी, लंबी सीढ़ी तथा ज्यामिति की आकृति वाली छह खानों की पेटी आदि इस प्रकार के साधन हैं।

बहुत छोटा बालक या जिसका इन्द्रिय-विकास अभी अपूर्ण है, वह वस्तुओं के रूप को यथार्थ रीति से जान नहीं सकेगा, देख नहीं सकेगा। बचपन में (दृश्येन्द्रिय के बजाय) स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा रूप का जितना ज्ञान प्राप्त करना संभव है उतना बालक आंख के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। लेकिन उक्त साधनों के द्वारा आंख का विकास होने पर बालक में रूप देखने की एक नूतन शक्ति विकसित हो जाती है। जब बालक की संस्कारित आंखें चारों तरफ सब कुछ देखने लगती हैं तब उसको यह दुनिया चमत्कारों से भरी हुई लगती है। भांति-भांति के आकारों से भरी यह सृष्टि उसे अद्‌भुत दृश्य लगती है। उसके आनंदित जीवन में एक अद्‌भुत नवोन्मेष होता है। आकार की पूरी रचना उसकी आत्मा में भर जाती है और आंखों के समक्ष रूप के अनेक स्वरूप खुलने लगते हैं। वह रात-दिन प्रकृति तथा मानव-कृति को अपने हृदय में धारण किए ही रहता है। जब अंत में अंतःशक्ति को प्रकट करने के स्थूल साधनों पर उसका नियंत्रण कायम होने लगता है तब वह अपने अंदर भरी हुई प्रकृति को कागज या कैनवास पर फिर से प्रस्तुत करता है। इसी को हम चित्र कहते हैं।

रंग एवं छायारंगों की भली-भांति प्रशंसा एवं आस्वाद करने की क्षमता

बालक में इस क्षमता का विकास रंगों की उन पेटियों को उपयोग में लाने से हो सकता है, जिनके सम्बन्ध में इन्द्रिय-विकास वाले प्रकरण (पुस्तक

के प्रथम खंड) में वर्णन किया जा चुका है। रंगों का सम्मान करने की शक्ति बालक में बीज रूप में विद्यमान रहती है, उसे रंग बहुत आकर्षित करते है। रंगों से खेलना या उनका अवलोकन करना उसे बहुत भाता है। इसके बावजूद रंगों को परखने की शक्ति का सही ढंग से शिक्षण न किया जाए तो वह रंगों का आनंद ले ही नहीं सकता। बालकों को रंगों तथा छाया-रंगों की बारीक समझ न होने से वे रंगीन चित्रों और प्रकृति के रंगीन दृश्यों की बारीकी को समझ नहीं सकते। परिणामतः वे अपने चित्रों को रंगों के संयोजन से सर्वांग सुन्दर नहीं बना सकते। सीधी-साधी रेखाएं खींचकर आरेखन करना एक बात है और रंग भरना अलग बात है। रंग-कला के बगैर अच्छे-अच्छे आरेखन भी शुष्क एवं अनाकर्षक लगते हैं। भले ही बालक बहिर्प्रकृति एवं मानव प्रकृति के रूप का तृप्त होकर पान कर ले, लेकिन रंग-दृष्टि के विकास की कमी रह जाने पर दूसरी दिशा में अपने स्वरूपों को सर्वांग पूर्ण बनाने में तो वह असमर्थ ही रहेगा। मान लें कि बालक के मन में स्वयं को लिखित रूप में व्यक्त करने हेतु अनेक विचार भरे हैं, पर यदि उसे निबंध लिखने का कौशल नहीं आता तो वह अपने विचारों को व्यवस्थित रूप से नहीं लिख पाएगा। वैसे ही रंग-शक्ति से रहित व्यक्ति भी अपनी अन्तरात्मा को सम्पूर्णतया व्यक्त कर पाने में निष्फल सिद्ध होगा। ऊपर जिन साधनों की ओर इंगित किया है, उनके उपयोग से बालक की रंग-दृष्टि का अपूर्व विकास होता है। फिर वह जिधर दृष्टिपात करेगा, रंगों के चमत्कार के अपूर्व उदाहरण देखने लगेगा। यह सम्पूर्ण सृष्टि जाज्वल्यमान चेतना से युक्त लगेगी। खुले नीले आकाश को देखते-देखते वह गंभीर बन जाएगा। सूर्योदय और सूर्यास्त के रंगों को देखकर उसका हृदय डोलने लगेगा। इन्द्रधनुष नजर आते ही उसकी आत्मा उछलने लगेगी। रंग-बिरंगी तितलियों-पतंगों के पीछे वह पागलों की तरह घूमेगा, मानो उनके साथ-साथ वह उड़ रहा हो। वह छोटी से छोटी वस्तु के अवलोकन की उपेक्षा नहीं कर पाएगा, न उसमें उनकी अवगणना करने की वृत्ति रह पाएगी, बल्कि उसकी रंगों के आस्वादन की क्षुद्रता महत्ता में परिणत हो जाएगी। वह आकाश के रंगों को देखने के लिए सबसे पहले जागेगा। नींद आती हो, तब भी वह

शाम के आकाश को देखेगा। यह शक्ति, यह वृत्ति, यह चेतना उपर्युक्त साधन के उपयोग से पैदा होती है। जब बालक रूप व रंग दोनों को समझने लगेगा, तब वह इन दोनों में विद्यमान फर्क को भी आसानी से समझने लगेगा और इनकी विशेषताएं समझ लेने के बाद उसके आनंद में और वृद्धि होगी। प्रत्येक पदार्थ उसकी आंखों के समक्ष नया-नया रूप धारण करेगा। उसकी दुनिया छोटी नहीं रहेगी बल्कि अनंत गुना विशाल बन जाएगी। उसकी दृष्टि क्षितिज तक व्यापक बनेगी तथा आकाश तक ऊंचाई पर जाएगी। उसका मन चांद-सूरज के लोक तक भी घूम आएगा। इन दोनों साधनों के उपयोग से बालक की सच्ची कल्पना-शक्ति का विकास होगा।

इच्छानुसार आरेखन करने की हाथ की शक्ति

इस शक्ति के विकास के साधनों का एक तरह से लेखन-शिक्षण के प्रकरण में उल्लेख हो चुका है, फिर भी उसका यहां विस्तार से विवेचन करना समीचीन होगा।

साधन : (क) लकड़ी की दो डेस्कें, जिनमें से प्रत्येक पर गुलाबी रंग की चार-चार लोहे की फ्रेम रख सकें। प्रत्येक फ्रेम में लोहे की ज्यॉमितिक आकृति होनी चाहिए जिनका रंग नीला हो और जिनकी आकृतियां लकड़ी की आकृतियों के जैसी ही हो। प्रत्येक आकृति के बीच बटन लगे हुए हों।

(ख) विविध रंगों की दस पेंसिलें।

(ग) विविध प्रकार के रेखाचित्रों का एल्बम।

(घ) खाली कागजों के टुकड़े या कतरनें।

(ङ) विविध रंग-बिरंगे सुन्दर चित्रों का समूह।

रंग-बिरंगे असंख्य चित्रों का समूह बालकों की रंग-क्षमता को विकसित करने में अत्यंत मददगार हो सकता है। ऐसे उपयोगी चित्र शुरू से ही विद्यालय में संग्रहीत करके रखे जाने चाहिए। जैसे-जैसे बालक की

चित्र परखने की शक्ति तथा रुचि बढ़ती जाए वैसे-वैसे उस संग्रह को खुला रख देना चाहिए।

साधनों की उपयोग-विधि : दोनों डेस्कों को पास-पास एक पंक्ति में रखें और उन पर आठों आकृतियों तथा फ्रेम को साथ-साथ रखें। आकृतियों को डेस्कों पर इस तरह से सजा कर रखें कि बालक उन्हें लेने को आकृष्ट हों। डेस्कों को बालकों से कुछ दूरी पर रखें। अब बालक को कागज की एक पर्ची दें और उसे कोई फ्रेम पसंद करने को कहें। तब कागज पर फ्रेम रख कर पेंसिल को उसके अन्दर की किनारी छूते हुए फ्रेम के चारों ओर फेरने के लिए बालक से कहा जाए। जब बालक फ्रेम की भीतरी किनार के चारों ओर पेंसिल घुमा कर फ्रेम को उठाएगा तो उसकी नजर कागज पर खिंची भूमिति की रंगीन आकृति पर पड़ेगी। यह आकृति फ्रेम की आकृति जैसी ही होगी। इसे देख कर बालक को अचंभा होगा। निश्चय ही इस प्रकार बालक भूमिति की आकृति खींचने में सक्षम बनेगा और वैसी आकृति खींच देगा; इसमें कोई नवीनता नहीं, अथवा इसमें कोई नई क्रिया समाई हुई नहीं है। जब बालक लकड़ी के बक्सों वाली आकृतियों के किनारों पर हाथ की उंगलियां फेरने लगता है, तभी से वह आकृति खींचने की क्रिया सीख जाता है, लेकिन उस समय तो वह सिर्फ उंगली से आकृति खींचना सीखता है, न कि पेंसिल से। फर्क सिर्फ इतना ही है कि पहले बालक उंगली से फ्रेम की किनारी को छूता था और फ्रेम का आकार जानता था। अब उसकी जगह बालक पेंसिल के द्वारा फ्रेम के आकार को आरेखित करता है। अब उंगिलयां साधन नहीं रहतीं, पेंसिलें साधन बन जाती हैं। अब वह फ्रेम को छूता नहीं, अपितु फ्रेम का चित्र बनाता है।

बालक को इस प्रकार आकृतियों के चित्र बनाने में बहुत मजा आता है और वह उनमें तल्लीन बन जाता है। इस क्रिया के पश्चात् बालक उस खिंची हुई आकृति पर भूमिति की लोहे वाली आकृति रखता है और दूसरे रंग की पेंसिल पसंद करके आकृति के चारों ओर फेरता है। जब

वह आकृति को उठाता है तो उसकी नजर कागज पर दो रंगों से उभरी आकृति पर पड़ती है।

बालक को रंग की पेटी का परिचय हो चुका होता है अतः उसे रंगीन पेंसिलें चुनने में बहुत आनंद आता है। उसके पास अलग-अलग प्रकार की आठ आकृतियां होती हैं तथा दस रंग-पेंसिलें होती हैं, जिनसे आकृतियां बनाने तथा रंग की लकीरें खींचने में वह पर्याप्त विविधता ला सकता है। ऐसे में सभी आकृतियों को अलग-अलग रंगों में बनाने का उसका मन होता है।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया है, जब बालक को आकृतियां खींचना आ जाता है तो वह उन्हें रंगीन रेखाओं से भरने की ओर मुड़ता है। शुरूआत में बालक का हाथ बहुत अस्थिर होता है। अतः उसके हाथ से आकृति सही-सही भरी नहीं जाती। या तो उसकी लकीरें आकृति से बाहर निकल जाती हैं या फिर लकीरें छोटी होने के कारण आकृति की रेखा का स्पर्श नहीं करतीं। फिर लकीरें टेढ़ी-बांकी भी होती हैं, लेकिन धीरे-धीरे इस काम में सफाई आने लगती है। आहिस्ते-आहिस्ते रेखाएं आकृति की सीमा से बाहर निकलनी रुक जाती हैं और छोटी होती जाती हैं। वे सीधी, पास-पास तथा समानांतर भी होने लगती हैं। आखिर में बालक पूरी आकृति में समानांतर, सीधी, पास-पास रेखाएं भरने लगता है।

जब बालक इस स्थिति तक पहुंचता है तो एक तरफ उसका हाथ लिखने में योग्य हो जाता है तो दूसरी तरफ चित्र बनाने में सक्षम हो जाता है।

इन आकृतियों में रंग भरने से बालक में रंग की शक्ति अधिक से अधिक विकसित होने लगती है। बालक अपनी इच्छा से ही रंग भरने लगता है, अतः उसे इस काम में अत्यन्त आनंद आता है। बच्चे इन आकृतियों में ऐसे सुन्दर छाया-रंग भरते हैं तथा ऐसा आनंददायी रंग-संयोजन करते हैं कि यह बात ही गलत लगने लगती है कि उन्हें चमकीले व चमकदार रंग अच्छे लगते हैं। सच तो यह है कि उन्हें जब रंगों

का ज्ञान ही नहीं कराया जाता तो उन्हें गहरे और चमकीले रंग पसंद आएंगे ही।

निश्चय ही बच्चे प्रारंभ में गहरे रंग भरते हैं, लेकिन जैसे-जैसे रंग की परख तथा दृष्टि बढ़ती जाती है वैसे-वैसे हल्के रंग उनकी नजर में आने लगते हैं।

जब बालक में इतनी क्षमता आ जाती है तो उन्हें ऐसी पुस्तकें दी जाती हैं जिनमें भूमितिक आकृतियां खिंची हों या जिनमें विविध घरेलू चित्र हों–स्कूल, सुपरिचित पदार्थों, पत्थर की आकृतियों के नमूने, फूल, पत्ते, प्राणी, पतंगे, घास, आकाश, घर, पर्वत, मनुष्य तथा प्रकृति के दृश्य आदि रेखाचित्र हों।

ये रेखाचित्र बालक पेंसिल से तथा आगे चलकर जलरंगों से भरते हैं। इन चित्रों से बालक की रंग-शक्ति का कैसा विकास हुआ है, तथा रंगों के बारे में उसका अवलोकन कैसा है, यह जाना जा सकता है। इन चित्रों से वह अपनी रंग-शक्ति में वृद्धि करता है। अभी तक बालक अपने द्वारा बनाई गई आकृति में मनपसंद रंग भरता था। अब उसको वस्तु या पदार्थ या रेखाचित्र में रंग भरना होगा। यदि बालक उनमें गलत रंग भी भरे तो न उसकी गलती बताई जाए, न उसे रोका जाए। उसे यह न बताया जाए कि सही रंग कौनसा है, न उसे यह सिखाने का प्रयास किया जाए। अवलोकन की कमी के कारण ही बालक गलत रंग भरता है। अतः एक बार रंग-महात्म्य को तथा उसकी रसिकता को समझ लेने पर उसका अवलोकन तीव्र बनता है। अवलोकन के परिणाम स्वरूप उसके चित्रों में सुन्दरता और सुरम्यता दिनोंदिन बढ़ने लगती है, फिर रेखाचित्रों में रंग भरते समय बालक को मूल वस्तु का भी अवलोकन करना पड़ेगा। तब उसके मूल वस्तु के अवलोकन में निश्चितता एवं सूक्ष्मता आएगी। शुरू-शुरू में बालक सादे चित्रों में रंग भरेगा। आगे चलकर वह और जटिल तथा ब्यौरे वाले चित्रों में रंग भरेगा। तब तो वह जलरंगों का भी बेधड़क उपयोग करने लग जाएगा। जो बालक पेंसिल के द्वारा आकृतियों को बराबर-बराबर भर सकें,

जिनकी रेखाएं सीधी, पास-पास तक समानांतर बनें, उनको वाटर-कलर के द्वारा काम करने की छूट दी जा सकती है।

यह सब चित्रकला की तैयारी है। हाथ का स्थिर होना, रेखाएं बराबर निकालना, रंगों का परिचय, उन्हें भरने का ज्ञान आदि पूर्व तैयारी के ही अंग हैं। बालक के दोष निकालने या टोकाटोकी करने की बजाय उक्त तैयारी करने तथा अवलोकन बढ़ाने की तरफ उसे खींचना चाहिए। मान लें कि कोई बच्चा गुलाब के रेखांकन में आसमानी रंग भरता है तो उसकी गलती बताने या उसे गुलाबी पेंसिल देकर रंग भराने की बजाय उसे बाग में ले जाना चाहिए और गुलाब के पौधे व फूलों से उसे परिचित कराना चाहिए। इस तरह एकाएक उसका ध्यान गुलाब के पौधे और उसके रंग की तरफ आकृष्ट होगा। रंग-बोध तो उसका विकसित था ही बस, वह गुलाब के रंग से अनभिज्ञ था, जिसे उसने अब जान लिया। तब वह विद्यालय में आकर असली गुलाबी रंग निकालता है। इस एक प्रयास में ही बालक में एक नवीन विचार-सृष्टि जाग्रत हो जाती है। वह ऐसे निर्णय पर पहुंच जाता है कि रंग भरने हों तो किसी से पूछने के जरूरत नहीं है अपितु मूल वस्तु के पास जाना चाहिए। वहीं से उसके वास्तविक रंग ज्ञात करने चाहिए। इस तरह बालक रंग भरने के संबंध में आत्म-निर्भर बनता है तथा चित्रकला की तरफ मुड़ता है।

उपर्युक्त काम के साथ ही साथ एक अन्य काम की दिशा में भी बालक की दृष्टि विकसित करनी होगी। वैसे उपर्युक्त काम की वजह से उसमें इस काम की दिशा प्रकट होती अवश्य है। इस काम को स्वतंत्र हस्तारेखन कहते हैं। इसकी व्याख्या सामान्यतः इस प्रकार है : 'किसी भी प्रकार के माप अथवा औजारों की मदद के बिना सिर्फ हाथ और आंख की मदद से चित्र बनाना।'

इसके लिए बालक को सफेद कागज के टुकड़े देकर कहा जाए कि इस पर अपना कोई मनपसंद चित्र बनाए। शुरू-शुरू में उसका बनाया चित्र बेढंगा और अस्पष्ट होगा। शिक्षक को चाहिए कि उसे पूछ-पूछ कर उन

चित्रों के नीचे उनके नाम लिखते जाएं। अस्पष्ट चित्रों के भी नाम बालक की कल्पना में अवश्य होंगे। शिक्षक उन चित्रों को क्रमशः संभाल कर रखे। धीरे-धीरे बालक के चित्र अधिक स्पष्ट तथा अर्थपूर्ण बनने लगेंगे।

इन चित्रों से हमें यह ज्ञात हो जाएगा कि बालक का अपने आसपास के पदार्थों का अवलोकन कितना सही होने लगा है या उसके अवलोकन में कितनी सफाई और गहराई आने लगी है। बच्चों के ये कागज मनोविज्ञान के अध्येताओं के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। इनसे पता लगेगा कि बालक की अवलोकन-शक्ति कितनी बलवान हुई है और प्रत्येक बालक का वैयक्तिक रुझान किस तरफ जा रहा है। कालांतर में यह भलीभांति ज्ञात होगा कि अमुक बालक में वनस्पतियों का चित्र बनाने अथवा अमुक पदार्थों के चित्र बनाने की विशेष आसक्ति है। यह भी पता लगेगा कि बालक को किस प्रकार के पदार्थ पसंद आते हैं और किस तरह के पदार्थों की तरफ उसकी रुचि नहीं है अथवा ध्यान ही नहीं गया है। चित्रकला में इस विभाग का चित्रकार्य अत्यन्त महत्व रखता है। यह क्रम तीन से सात वर्ष के बालकों के लिए हैं।

(2)

इस द्वितीय विभाग में तीन प्रकार के आरेखन हैं :

1. भौमितिक रेखा, रेखांकन एवं सज्ञा (सीनियर ज्यामेट्रिक डिजाइन-डेकोरेशन)

2. भौमितिक आकारों की कलात्मक रचना (आर्टिस्टिक कम्पोजिशन विद द इनसेट्स)

3. स्वतंत्र हस्तारेखन (प्रकृति चित्र)

इस समय तक बालक भौमितिक आकृतियों को अच्छी तरह से काम में ला चुका होता है, उनसे अच्छा परिचय हो चुका होता है। अब तो उन्हें इन आकृतियों से भौमितिक रेखांकन बनाने हैं। रेखांकनों से वह आकृतियों के बारे में अधिक से अधिक विचार करने लगता है, परिणामतः

अन्त में उसे भूमिति का ज्ञान हो जाता है। रेखांकनों से उसे कागज पर भूमिति का ज्ञान मिलता है, भूमितिक आकृतियां बनाना आ जाता है। संक्षेप में, भौमितिक आकृतियों का उपयोग भौमितिक आरेखन के काम में लिया जा सकता है।

1. भौमितिक रेखा, रेखांकन एवं सज्ञा

साधन : 1. सेंटीमीटर रूलर 2. डबल सेंटीमीटर 3. प्रोट्रेक्टर (अर्द्धचंदक) 4. कम्पास और 5. रूलिंग के लिए स्टील पेन।

इन साधनों के अतिरिक्त बालकों को एक-एक पोर्टफोलियो (बही) दी जाती है। पोर्टफोलियो में एक पन्ने पर भूमिति की अलग-अलग आकृतियाँ आरेखित होती हैं। साथ में आकृतिवार एक और पन्ना होता है, जिसमें आकृति का नाम तथा उसका वर्णन दिया होता है। उदाहरणार्थ एक पन्ने पर एक वर्ग बना है, साथ के पन्ने पर लिखा होगा :

वर्ग

जो आधार भुजा है उसके दस भाग हैं। प्रत्येक भाग एक सेंटीमीटर का है। सभी भुजाएं समान हैं अतः प्रत्येक भुजा दस-दस सेंटीमीटर की है। वर्ग में चार भुजाएं होती हैं, एक-दूसरे से जुड़ी हुई। इनमें चार कोने होते हैं, चारों समान। ये समकोण ही होते हैं।

वर्ग में ये विशेषताएं होती हैं : 1. चार भुजाएं 2. चारों भुजाएं एक समान 3. चार कोने 4. चारों कोने समकोण 5. चारों कोने एक समान।

बालक उक्त पन्नों पर छपे चित्र देख-देख कर अपनी कापी में बनाएंगे। साथ के विवरण को दूसरे पन्ने पर लिखेंगे। इस समय उनके ध्यान में असाधारण रूप से एकाग्रता दिखने लगती है। उन्हें कंपास तथा उपर्युक्त साधनों को उपयोग में लाना बहुत अच्छा लगता है। जब भी उन्हें अवसर मिलता है, वे ऐसे साधन खरीद लेते हैं। जब वे बाजार या मेलों में जाते हैं तो अन्य खिलौने या ऐसी ही अन्य चीजें खरीदने के बजाय ये उपयोगी चीजें खरीदते हैं।

जब बालक इन आकृतियों का आरेखन करता है, देखादेखी इनकी नकल करता है तो उसे सहज ही भौमितिक वस्तुओं का बहुविध ज्ञान हो जाता है। भुजाएं, कोण, आधार, मध्यबिन्दु, मध्यगा, त्रिज्या, खंड, व्यास, कर्ण, परिध, परिमित, ज्या आदि क्या होते हैं, यह बालक जान जाता है।

बालक पोर्टफोलियो में दी गई आकृतियां ही नहीं खींचता। प्रत्येक बालक अपने पोर्टफोलियो में नई-नई आकृतियां बनाता है। कुछ बच्चे नई-नई आकृतियां खोज निकालते हैं। पोर्टफोलियों में सफेद ड्राइंग-पेपर पर चाइना इंक से डिजाइनें खिंची हैं, पर बच्चे रंगीन कागजों पर रंगीन या सुनहरी स्याही से आरेखन बनाते हैं। वे पहले रंगीन कागजों पर पोर्टफोलियो की आकृति खींचते हैं फिर पेंसिल अथवा वाटर-कलर से उसका शृंगार सजाते हैं। वे शृंगार का कोई भी साधन कहीं से उठा कर आकृति में भर देते हैं अथवा अपनी-अपनी कल्पना से नई सज्ञा ईजाद करते हैं। जिस तरह बालक मनपसंद रंगों को उपयोग में लाने को स्वतन्त्र हैं, उसी तरह उन्हें मनपसन्द कागज चुनने की भी छूट है। वे कैसा भी कागज उपयोग में ला सकते हैं। फिर शाला में उसके चारों ओर बगीचा, फूल, पत्ते आदि होने से उसका नैसर्गिक अवलोकन विकसित होता है। इसी अवलोकन से उसकी कल्पना-शक्ति खिलती है और वह रसिक बनता है। इसके अलावा बालक के पास तरह-तरह के कलात्मक आरेखन, महान चित्रकारों की कृतियों के अद्‌भुत फोटो तथा हेकल की 'नेचर्स आर्टिस्टिक फोर्मस्' नामक उपयुक्त उपलब्ध की जाती है, ताकि उसमें शृंगार चित्र बनाने की अभिरुचि विकसित हो।

बालक घंटों-घंटों चित्रकला का काम करते रहते हैं। इस समय उनसे तरह-तरह का वाचन कराया जाता है। इस शांत समय में वे पूरा इतिहास सुन-सुनकर सीख जाते हैं। भौमितिक आकृतियां बनाते तथा उन्हें अलंकृत करने में बालकों की पर्याप्त एकाग्रता हो जाती है। इस समय यदि उनको कोई बात पढ़कर सुनाई जाए तो उनके मस्तिष्क से वह कभी नहीं निकलती।

किसी भी आकृति-चित्र की नकल करने में, किसी भी अच्छी लगने वाली वस्तु से प्रेरित होकर भौमितिक रेखाकृति में उसे अलंकृत करने में, उसे रेखाकृति में रंग भरने, रंगों का मिश्रण करने, विविध रंगों में से अपनी पसंद का रंग चुनने, पेंसिल छीलने, कागज को भलीभांति जमाने, कपास को बराबर सजाने आदि के तमाम कामों में सावधानी और धीरज की बहुत जरूरत पड़ती है। पर इनमें असाधारण बौद्धिक एकाग्रता की जरूरत नहीं पड़ती। इनमें बुद्धि के उपयोग की बजाय स्थिरता की आवश्यकता है। किसी कृति की नई सृष्टि करने में जिस बुद्धिबल तथा प्रखर क्रियात्मक वृत्ति की अपेक्षा होती है, उनकी ऐसे कार्य में जरूरत नहीं होती। देख-देख कर नकल करने का काम होने के कारण इसमें बुद्धि पर भार नहीं पड़ता, उल्टे मन निर्मल होता है तथा उसे आराम मिलता है। पर एक बात है–मन इतना तो एकाग्र हो जाता है कि इधर-उधर नहीं भटकता। ऊपर जिस वाचन की बात की गई है, उसके श्रवण में बालक ध्यानमग्न हो जाता है। इस समय बालक के समक्ष तरह-तरह की पुस्तकों का वाचन कराया जा सकता है। इससे बालक कभी नहीं थकता, उल्टे उसके मस्तिष्क को फुर्ती और आराम मिलता है। अतएव बालक का ध्यान वाचन की तरफ अधिक आकृष्ट होता है।

पढ़ते-पढ़ते बीच में दूसरी बातें और चर्चाएं भी चलती हैं। बालक का सम्पूर्ण जीवन आनंद और विनोद से युक्त हो जाता है। रोचक वाचन सुनते-सुनते कभी-कभी अपना चित्र-कार्य छोड़ देने का उसका मन करता है और एकाग्रता से वाचन के प्रवाह को ग्रहण करने लगता है। कई बार बच्चे वाचन के दौरान आने वाले मनोरंजक हँसी-खुशी के प्रसंगों में अभिनय भी करने लगते हैं। तो कभी-कभी पूरे के पूरे प्रसंग पर अभिनय करने लगते हैं। कई बार सुनने में खोये बालक आश्चर्य में डूब जाते हैं, उनका मुंह फटा रह जाता है, आंखें स्थिर हो जाती हैं और हाथ ऊपर उठ जाते हैं। कभी-कभी बच्चे कथा के पात्रों का वर्णन करने लगते हैं अथवा उनके बारे में अपना मंतव्य व्यक्त करने लगते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त चित्रकला के साथ-साथ वाचन भी चलता है और तीव्र गति से बालकों का विकास होता है।

2. भावात्मक आकारों की कलात्मक रचना

भौमितिक आकृतियां जिस कद में एक-दूसरे के साथ सही-सही संबंध रखती हैं और जिनकी रचना ऐसी है कि जिनके कारण एक आकृति के खाने में दूसरी आकृति आ सके, उन्हें लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार की कलात्मक रचना बन सकती है। इन साधनों से बालक सृजन-शक्ति के अद्‌भुत चमत्कार कर बताते हैं और इस तरह इनके द्वारा अपने सौंदर्य-विषयक विचार सुन्दर रीति से व्यक्त करते हैं। कई बार कई-कई दिनों और हफ्तों तक ये साधन नए-नए भौमितिक आकृति आरेखन उपजाते हैं। इन आकृतियों को बच्चे अलग-अलग ढंग से सजाकर नए-नए शृंगारों की रचना करते हैं। कागज के टुकड़ों पर आकृतियां रखकर, उनके चारों तरफ पेंसिल घुमाने के पश्चात् आकृति को हटाकर वे कलात्मक रचना निर्मित कर सकते हैं। इस प्रकार काम करते-करते वे कई बार तो आश्चर्यचकित कर देने वाले कलात्मक नमूने तैयार कर डालते हैं।

इस तरह की रचना की नई सृष्टि निर्मित करते-करते अथवा स्वतंत्र हस्तालेखन या प्रकृति को देखकर उसके चित्र बनाते-बनाते बालक एकाएक ध्यानमग्न हो जाते हैं। उनकी सम्पूर्ण बौद्धिक-शक्ति उन कामों में संलग्न हो जाती है, अतः इस स्तर पर जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, वैसा वाचन करने की जरूरत नहीं है क्योंकि इस समय वह उस वाचन की तरफ ध्यान देने में असमर्थ होता है।

3. स्वतन्त्र हस्तालेखन (प्रकृति चित्र)

अब तक की समस्त क्रियाएं बालक की चित्रकारी के लिए तैयारी के रूप में होती हैं। इन क्रियाओं से उसके हाथ में भौमितिक आरेखन बनाने की शक्ति आती है, साथ ही भौमितिक संतुलन एवं सुयोग की कद्र करने की दृष्टि निर्मित होती है। संक्षेप में कहें तो इन समस्त क्रियाओं के कारण बालक के हाथ और आंखें चित्रकला के लिए तैयार हो जाते हैं। अनेक नए-नए चित्रों व पदार्थों का सूक्ष्म अवलोकन करना भी बालक की चित्रकला में मददगार बनता है। इन सबका परिणाम यह आता है कि

बालक की आंखें और हाथ सधते हैं तथा एकाग्रता से अवलोकन करने के कारण वह चित्र बनाना सीख जाता है। यह स्थूल तैयारी हो चुकने के बाद स्वतंत्र रूप से मनपसंद आरेखन बनाने को उसका मन उड़ान भरता है और अपनी अपूर्ण सृजनशक्ति तथा कलादृष्टि का हमें परिचय कराता है। चित्रकला के द्वारा बालक अपनी अपूर्व बौद्धिक शक्ति का जो प्रदर्शन कर पाता है, वह इतनी स्थूल तैयारी के बाद ही संभव हो पाता है। बालक को रूप-रंग तथा संतुलित सौंदर्य का दृष्टा बनाने में, साथ ही साथ उसके हाथों में नियंत्रण पैदा करने में ही इस पद्धति का रहस्य समाया हुआ है। जब एक बार यह तैयारी हो चुकती है, तब तो कुदरती प्रेरणा, कुदरती अवदान स्वतः काम करता है। यह सारा आधार इसी कुदरती अवदान पर टिका है। इन स्थूल साधनों से बलवान बना हुआ बालक अपनी आत्मा को प्रभावोत्पादक रीति से व्यक्त करने में समर्थ है। पद्धति का प्रदेश यहां आते-आते समाप्त हो जाता है। अब मुख्य मार्ग बदल जाता है और खेतों का मार्ग आ जाता है।

चित्रकला में क्रमिक अभ्यासक्रम जैसा कुछ नहीं हो सकता। मात्र स्थूल साधनों पर नियंत्रण तथा आत्मा की स्वतंत्रता–इन दोनों का सुयोग होने पर चित्रकला स्वयमेव प्रकट होती है। यही कारण है कि इटली की मोंटेसरी शालाओं में सीधे-सीधे चित्रकला नहीं सिखाई जाती। मोंटेसरी पद्धति बालक को चित्रकला के लिए परोक्ष रीति से तैयार तैयार करती है और फिर बालक को अपने आंतरिक उद्‌गारों को कागज पर व्यक्त करने के लिए खुला छोड़ देती है। यह विधि अपनाने से जिस प्रकार भाषा आंतरिक इच्छा को प्रकट करने के काम आती है वैसे ही चित्रकला भी आंतरिक वृत्ति को प्रदर्शित करने के काम आती है। होता भी यही है कि जिस प्रकार भाषा के द्वारा हम अपने प्रत्येक विचार को व्यक्त करने में सक्षम बन जाते हैं वैसे ही बालक चित्रों के द्वारा अपने आंतरिक अनुभवों-भावनाओं आदि को प्रभावोत्पादक रीति से प्रकट करने में सक्षम बन जाता है। अपने विचारों को सम्पूर्णतया व्यक्त करने हेतु जिस तरह बालक अपनी भाषा का विकास करने का प्रयास करता है उसी प्रकार चित्रों के द्वारा अपने अंतर्मन को प्रकट करने

के लिए भी वह चित्रकला को सम्पूर्ण एवं सुन्दर बनाने का प्रयास करता है। यह वृत्ति स्वाभाविक है। आवृत्ति बाल-स्वभाव में सहज है। इन चीजों का ज्ञान बालक की स्वाभाविक आवश्यकता है। तभी तो यह प्रयत्न स्वयंभू और स्व-स्फुरित है। व्यक्ति का सच्चा कला-शिक्षक उसकी अपनी आत्मा होती है। विकास आत्मा की जरूरत तथा स्वभाव है। यह अपने आप विकसित होती है तथा सुन्दरता प्राप्त करती है। चाहे जितनी रुकावटें आ जाएं अथवा आवरण आएं तब भी आत्मा तो प्रकट होगी ही।

नन्हें शिशु भी अपनी आंखों से जो पदार्थ देखते हैं उनको चित्रित करने के लिए स्व-प्रेरित होकर रेखाएं बनाते हैं। लेकिन अन्य शालाओं में 'बालकों के मुक्त चित्र' बताकर जो कुरूप चित्र दिखाए जाते हैं वैसे चित्र मोंटेसरी शालाओं में देखने में नहीं आते। इधर हमारे शिक्षाशास्त्री जुगुप्सा पैदा होने जैसे दागों भरे चित्र बाल-चित्रों के नमूनों के बतौर जो अपने पास रखते हैं वे बालमन की सच्ची साक्षी नहीं देते, परन्तु वे अनुचित पद्धति से, अनुचित रीति से उत्पन्न निरंकुश बुद्धिबल के भयंकर प्रदर्शन मात्र हैं। ये चित्र इतना ही बताते हैं कि बालक की आंख असंस्कारित है, हाथ अस्थिर व मंद हैं, और मन सुन्दरता-असुन्दरता सही या गलत–दोनों के संबंध में नासमझ है। ऐसे तमाम चित्र आत्मा की सुन्दरता नहीं बताते अपितु आत्मा की अपूर्णता ही बताते हैं। भयंकर विकृतियों से युक्त ये चित्र इस बात की साक्षी देते हैं कि असंस्कारित मानवप्राणी कैसा है! इन चित्रों को हम बालक के मुक्त हस्तारेखन तो हर्गिज नहीं कह सकते। बालक के हाथों से मुक्त रेखांकन तो तभी जनमते हैं कि जब बालक ने स्वतन्त्र वातावरण में रहते हुए प्रकृति के सौंदर्य को अपनी विकसित इन्द्रियों के द्वारा यथेष्ट मात्रा में अपने हृदय में भरा हो तथा उस सौंदर्य को पुनः प्रकट करने के यांत्रिक स्थूल साधनों पर नियंत्रण किया हो। इस तरह से तैयार हुआ बालक स्वतंत्रता में विचरते नूतन सृष्टि एवं नूतन सृजन उत्पन्न करके अपनी आत्मा को उसके सही रूप में व्यक्त करता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इन्द्रिय-शिक्षण तथा हाथ की तैयारी चित्रकला के लिए वर्णमाला सदृश महत्व रखते हैं। इन दो के बगैर बालक चित्रकला में निरक्षर रहता है तथा

अपने व्यक्तित्व का आविर्भाव नहीं कर सकता। जो बालक लिख नहीं सकते उनके अक्षरों का शास्त्रीय अभ्यास संभव ही नहीं है, वैसे ही जिन बालकों का प्राथमिक विकास नहीं हुआ वे चित्र नहीं बना सकते। बहिर् साधनों की सम्पूर्णता होने पर ही अंतःसमृद्धि प्रकट होती है। बहिर् साधनों की सम्पूर्णता से ही अंतर्शक्ति की मूल्यवत्ता प्रकट होती है। यह स्थूल तैयारी जब तक पूर्णता तक नहीं पहुंचती तब तक बालक की सृजनशक्ति की कल्पना तक नहीं जा सकती।

जब तक हम यह नहीं जानेंगे कि बालक को अपनी सहज-स्वाभाविक शक्ति प्रकट करने के लिए किस क्रम में अपना विकास तलाश करना चाहिए तब तक बालक की अंतरात्मा के आविर्भाव के रूप में चित्रकला का अवतार संभव नहीं है। वर्तमान विद्यालयों की चित्रकला में से, हाथ की अद्भुत भाषा का सार्वत्रिक विकास–चित्रकला नहीं जन्मेगी। इसका जन्म तो नवीन शाला के नवीन बालक के हाथों होगा। जिस प्रकार किसी अक्षय स्रोत से कोई एक फव्वारा फूट पड़ता है वैसी ही यह नूतन भाषा बाल-हृदय से हाथों के द्वारा फूटेगी।

बालक को इस अमूल्य चित्रकला का उपहार देने के लिए हमें उसमें अवलोकन-शक्ति, हाथ की तालीम तथा आत्मा की रसिकता जगानी होगी। इस दृष्टि से देखने पर चित्रकला की तैयारी के बतौर समग्र जीवन को सुन्दर रीति से रचना होगा। एक बार जीवन की यह तैयारी हुई नहीं कि फिर चित्रकला की दिव्य-दृष्टि की चिनगारी सुलग उठती है। चित्रकला के लिए विकासमान बालकों में वास्तविकता के अवलोकन की तथा रूप-रंग का भेद परखने की शक्ति परिपक्व होने लगती है। रंग की कद्र करने में वे अत्यन्त तीव्र बुद्धिमान बन जाते हैं। उनके हाथों में नियंत्रण-शक्ति आ जाती है। तदुपरांत वे अनेक पदार्थों को देख-देखकर अपने आप उनके चित्र बनाने लगेंगे। फूल, वृक्ष, गमले, प्राकृतिक दृश्य आदि जो भी उन्हें पसंद होगा, वे उनके चित्र बनाएंगे। वे उनमें इतने कौशल से रंग भरेंगे कि उनके वे रंग साक्षात् मूल पदार्थ के रंगों जैसे होंगे। इस स्तर तक

उनमें रंगों तथा छाया रंगों को भरने की कला उत्तम रीति से विकसित हो जाती है। शुरूआत में बालकों को तीन मूल रंगों (लाल, पीला, नीला) की ट्यूबें दी जाती हैं। इनसे वे अपनी पसंद के विविध छाया रंग बनाने लगते हैं।

बालकों को प्रकृति-शास्त्र (नेच्युरल साइंस) अत्यन्त मदद करता है। जैसे-जैसे उन्हें वनस्पति शास्त्र की तथा प्राणी जीवन की जानकारी ज्यादा से ज्यादा मिलती जाती है वैसे-वैसे उनमें अवलोकन की सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। आगे चलकर प्रयोगशाला में काम आने वाले उपकरण बड़ी खुशी से उनके हाथ में सौंपे जा सकते हैं। बालक इन साधनों के द्वारा अपने प्रयोगों एवं अनुभवों का प्रदेश व्यापक बना कर ज्ञान में अभिवृद्धि कर सकता है। इसी ज्ञान की प्रभावोत्पादकता बालक में चित्र बनाने की शक्ति पैदा करती है। बालक को एक अच्छा-सा सूक्ष्म-दर्शक यंत्र तथा अच्छा लेंस दिया जाए, तो वह भी उसके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। चित्र बनाने के साथ-साथ बालक चित्रों को भी लिखने लगता है, इस प्रकार चित्रकला से निबंध-लेखन की प्रवृत्ति भी जन्म लेती है। □

प्रकरण पन्द्रहवां

हाथ की मेहनत

हाथ के काम और हाथ के व्यायाम में अन्तर होता है। हाथ के व्यायाम का उद्देश्य हाथ को बलवान बनाना है जबकि हस्त उद्योग का उद्देश्य समाज के लिए उपयोगी अमुक कार्य सिद्ध करता है। हस्त-व्यायाम से व्यक्ति के विकास में मदद मिलती है जबकि हस्त-उद्योग से पूरे संसार को लाभ मिलता है। यद्यपि एक तरह इन दोनों का परस्पर निकट का संबंध है, क्योंकि व्यायाम से सधे हुए हाथ ही सार्थक काम कर सकते हैं।

डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं : 'कुछ अनुभव हासिल कर लेने के बाद फ्रॉबेल के द्वारा गृहीत हस्त-कला की विधि को छोड़ देना मुझे समझदारी भरा कदम लगा। कारण यह है कि बालक की आंखें बचपन में परिपक्व नहीं होती अतः शरीरविज्ञान की दृष्टि से सीने-गूंथने या बुनने का काम हानिकर है। इस काम से दृश्येन्द्रिय को श्रम पड़ता है तथा परिणामतः आंखों को नुकसान पहुंचता है। फ्रॉबेल के अन्य अनके खेल, यथा—कागज काटना आदि हाथों को व्यायाम देते हैं। उनमें हाथ का काम अर्थात् कारीगरी जैसा कुछ नहीं होता।

'फिर भी फ्रॉबेल द्वारा संयोजित खेलों में सबसे उचित खेल मिट्टी का काम है। इसमें बालक माटी के द्वारा अमुक-अमुक वस्तुएँ बनाते हैं, तथापि प्रकृति के स्वतन्त्रता सिद्धांत का अनुसरण करते हुए मैंने बालक के हाथ में माटी सौंपना उचित ही समझा। मैंने उन्हें ऐसा कुछ नहीं कहा कि वे अन्य वस्तुएं देखें और माटी से वैसे अथवा अन्य उपयोगी पदार्थ बनाएं। अनुभव से ज्ञात हुआ कि माटी के काम से बालक के व्यक्तिगत स्वयं-स्फुरित प्रदर्शनों को देखा जा सकता है और उसका उपयोग बाल-मन के अध्ययन के निमित्त किया जा सकता है। पर माटी का काम शिक्षण नहीं देता।

'ऐसे में मैंने प्रो. रेंडोन द्वारा स्थापित स्कूल ऑव् एज्युकेटिव आर्ट में जो मनोरंजक खेल दाखिल किये गए हैं उन्हें बालगृह में प्रयुक्त करने का निश्चय किया। उक्त शाला का उद्देश्य युवकों को शहरी जीवन एवं संस्कारी जीवन की शिक्षा देता है। दूसरों की वस्तुओं – मकानों, मूर्तियों, स्मृति-स्तंभों आदि की देखभाल करना तथा उन्हें सम्मान देना प्रत्येक शहरी व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इस दायित्व का ज्ञान उक्त शाला में भांति-भांति के हस्त-उद्योग सिखाकर कराया जाता है। मुझे इस शाला के उद्देश्य और कार्य-प्रक्रिया पसंद आई। इसका कारण यह था कि मेरे बालगृह का प्राथमिक उद्देश्य भी तो यही था कि बालक अपने घरों की दीवारों की तथा पास-पड़ौस के वातावरण की किस तरह देखभाल करें तथा उसकी इज्जत करें।

'प्रो. रेंडोन की दृढ़ मान्यता थी कि शहरी जीवन के कोरे सिद्धांतों को रटाने अथवा बालकों से नीति वाक्य का उच्चारण कराने से शहरी जीवन का गठन नहीं किया जा सकता। शहरी जीवन तो शिक्षण से उद्भूत होना चाहिए। धूल या उपयोगी पदार्थों विशेष रूप से मूर्तियों, स्मृति-स्तंभों एवं ऐतिहासिक भवनों आदि का सम्मान करना चाहिए। यह दृष्टि कला के शिक्षण से पैदा की जा सकती है।

'उक्त विशाल प्रयोजन से प्रो. रेंडोन ने रोम में यह विद्यालय स्थापित किया था और वहां उन्होंने विशेष रूप से इटली के एक प्राचीन उद्योग कुम्हारगिरी को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया था।

'इतिहास, पुरातत्व, शोध तथा कला की दृष्टि से देखें तो माटी के बर्तनों का महत्व ऐसा-वैसा नहीं। मनुष्य ने अग्नि की खोज करके जब इसका उपयोग किया, तब उसके साथ ही साथ माटी के बर्तनों की शोध हुई। वस्तुतः मनुष्य ने अपना पहला भोजन माटी के इन बर्तनों में ही पकाया होगा।

'मिट्टी के उद्योग में पूर्णता किस प्रकार आती रही, इसका इतिहास हमारी प्रारंभिक दशा में से विकसित दशा की ओर प्रयास का इतिहास है।

नैतिक दृष्टि से भी उसकी मूल्यवत्ता है। पुरातन काल में कौटुम्बिक जीवन का सूचक चिह्न हड्डी तथा सामाजिक जीवन का चिह्न कुल्हाड़ी माना जाता था। देव मन्दिरों तथा श्मशान भूमि में भी ये दो चीजें धार्मिक चिह्न के बतौर देखने में आती हैं।

'जैसे-जैसे लोग सभ्यता और संस्कृति में आगे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे वे अपनी कला एवं सौन्दर्य विषयक भावना को व्यक्त करते जाते हैं। इजिप्ट, ग्रीस तथा इस्ट्रुकन के मिट्टी के बरतनों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं। मनुष्य के बढ़ते जाते विकास के साथ ही बरतनों की उत्पत्ति, पूर्णता तथा विविधता चलती आई है। बरतनों के इतिहास में मानव जाति का इतिहास समाया हुआ है। बरतनों की उपयोगिता के साथ ही साथ इनकी यह एक विशेषता है कि इनके आकारों में अनंत विविधता एवं शृंगार कर पाना संभव है। इस नाते व्यक्ति की प्रतिभा को विकसित होने की पर्याप्त गुंजाइश रहती है।

'एक बार शिक्षक से बरतन बनाने का तरीका जान लेने के बाद प्रत्येक व्यक्ति अपनी सौंदर्य दृष्टि से मनपसंद आकार बना लेंगे। यह वैयक्तिक कला-सर्जना का काम है। रेंडोन के विद्यालय में तो इसके साथ-साथ कुम्हार के चाक का काम भी सिखाया जाता है।

'इस शाला में छोटी-छोटी ईंटें बनाना तथा उन्हें भट्टी में पकाना भी सिखाया जाता। है। बालकों को वहां ईंट व चूने से छोटी दीवारें बनाना भी सिखाया जाता है। शुरूआत में बालक ईंटों पर ईंटें रखकर उनकी दीवार बनाते हैं, फिर तो वे सचमुच के मकान बनाना सीख जाते हैं। वे फावड़े-कुदाली से नींव खोद कर बगल की दीवार बनाते हैं। नमूने के इन छोटे घरों में छेद रखकर खिड़की-दरवाजे लगाते हैं। वे खपरैल भी बना लेते हैं और मकान को खपरैल से आच्छादित कर देते हैं।

'मैंने अपने बालगृह में ऐसे हस्त-व्यायाम की शुरूआत की। दो-तीन पाठ बताये कि बालक उत्साहपूर्वक बरतन बनाने लगे। अपनी बनाई हुई चीजों को वे बहुत संभाल कर रखते हैं। मिट्टी से वे छोटी-छोटी

चीजें, यथा-फल, अंडे आदि बनाते हैं और उन्हें अपने बनाए बरतनों में संभाल कर रखते हैं। लाल-रंग का 'वाज' (Vase) और उसमें सफेद अंडे। यह बालकों की प्रारंभिक सजावट है। इसके बाद तरह-तरह के 'वाजों' की बनावट शुरू हुई।

'पांच-छह वर्ष की उम्र में कुम्हार के चाक का काम शुरू हो गया। फिर तो बालकों ने मनपसन्द की चीजें बनाई। स्वयं उगाए गए एक पौधे की बगल में अपनी मेहनत से एक छोटा-सा घर बनाया।

'अतः कहना न होगा कि मानव जाति की प्रगति का इतिहास बाल-जीवन में मूर्त्त होता है। आदिम मनुष्य की तरह वे खेती करते हैं, आराम के लिए मकान बनाते हैं तथा भूख मिटाने के लिए बर्तन बनाकर उनमें भोजन पकाते हैं। □

प्रकरण सोलहवाँ

प्रकृति-शिक्षण

एडमंड होम्स ने लिखा है : 'रूसो ने बाल-शिक्षण का काम अधिकांशतः प्रकृति को सौंपा था और अध्यापक को उसमें कम स्थान दिया था। फ्रॉबेल ने उससे काम लिया था। उसने यह काम विशेष रूप से शिक्षक के अधीन रखा था और प्रकृति को इसमें कम स्थान दिया था।'

डॉ. मोंटेसरी ने प्रकृति तथा समाज की शिक्षा का समन्वय करके इन दोनों समर्थ शिक्षाविदों को सुन्दरता से समन्वित किया है।

रूसो ने प्रकृति और प्रकृति-शिक्षण की महिमा को इस तरह गाया था कि एक समय यूरोप में प्रकृति-शिक्षण के प्रति जबर्दस्त मोह व्याप गया था। यही नहीं, प्रकृति के वातावरण में स्वच्छन्दतापूर्वक शिक्षित होने वाला व्यक्ति कैसा उत्तम होता है यह जानने के लिए लोग बहुत उत्सुक थे। रूसो ने मनुष्य द्वारा प्रदान की जाने वाली शिक्षा का इतने खुले रूप में प्रतिकार किया था और इतनी प्रभावोत्पादक रीति से बातें कही थीं कि लोगों के मन में प्रकृति की शिक्षा के प्रति लगाव होना स्वाभाविक था। लेकिन जब लोगों ने समाज की शिक्षा से वंचित तथा प्रकृति के प्रांगण में पलकर बड़े हुए एक प्राकृतिक मनुष्य को देखा तो उनका मन रूसो के प्राकृतिक मनुष्य तथा प्राकृतिक शिक्षा की महिमा से नीचे उतर गया।

यह प्रकृति-पुरुष ऐवरन वन का एक जंगली मानव था। इस मानव-प्राणी की कथा हमें प्रकृति की शिक्षा से परिचित कराती है तथा मानव-प्राणी को शिक्षित-संसारित करने के प्रयोगों में प्रकृति-शिक्षण एवं सामाजिक-शिक्षण का स्थान सुनिश्चित करके हमें यह मार्गदर्शन देती है कि प्राकृतिक मानव को सामाजिक कैसे बनाया जा सकता है।

उपर्युक्त जंगली मानव बचपन से ही जंगल में रह कर बड़ा हुआ था। उसे मार डालने के लिए ही वन में लाया गया था। मारने के बाद जो

लोग उसे लेकर आये थे, उनको लगा कि वह मर गया है अतः वे लोग उसे वन में फैंक कर चले गए। लेकिन प्रकृति के साधनों अथवा चमत्कारों के बल पर वह मरने से बच गया। वह स्वस्थ होकर वर्षों तक पशुओं की भांति उनके मध्य नग्नावस्था में स्वच्छन्द विचरता रहा, भटकता रहा और जिंदा रहा। अनेक हिंसक पशुओं के साथ उसे स्वरक्षण के लिए संघर्ष करना पड़ा, भागते-दौड़ते अनेक ऊंचे-नीचे शिखरों से गिरना पड़ा। उसके शरीर पर लगे घाव और ठीक हुए जख्म बिना पूछे ही स्पष्ट रूप से ये तमाम बातें बता देते थे।

एक बार जंगल में भटकने वाले शिकारियों की उस जंगली-मानव से भेंट हुई। वे उसे बांधकर पेरिस ले आए। जंगली मानव की आदतें बिल्कुल जंगली थीं। वह पशुओं की ही भांति खाता-पीता था। शरीर को क्षण भर के लिए भी स्थिर नहीं रख सकता था। मल-मूत्र त्यागने की भी उसमें कोई सभ्यता नहीं थी, न व्यवस्था थी। वह अपने रक्षक को भी क्षति पहुंचा देता था। चलना उसे आता न था; चलने के बजाय वह दौड़ता था। उसकी इन्द्रियां जड़ हो चुकी थीं। वह गूंगा था और जीवन भर गूंगा ही रहा था।

इस प्राकृतिक मनुष्य को देखने के लिए जगह-जगह से विद्वान, शरीर विज्ञानी, ज्ञाता, डॉक्टर, शिक्षाविद् दौड़े आए, परन्तु उन्हें तत्काल ज्ञात हो गया कि यह व्यक्ति तो नितांत जंगली या मूढ़ है। न इसमें कुछ देखने को है, न कुछ सीखने को। प्राकृतिक मानव के प्रति उनकी जो धारणा थी, वह निर्मूल सिद्ध हुई और वे निराश होकर चले गए। रूसो द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक मनुष्य की बात हवा में बिखर गई और लोग जान गए कि वह महिमा कितनी खोखली थी।

समाज से बाहर रहने के कारण जंगली-मनुष्य पर सामाजिकता की एक भी छाप पड़ी हुई नहीं थी। यही नहीं, सामाजिक वातावरण में रहने वाले मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं के लिए अपनी जिन इन्द्रियों का सदुपयोग करना पड़ता है, वैसा उपयोग इस मनुष्य को जंगल में रहने के कारण करना नहीं पड़ा था, परिणामतः उसकी इन्द्रियां निष्क्रिय हो गई थीं,

जैसे कि उसके कान लगभग नष्ट हो चुके थे। समाज से वंचित यह मानव समाज के समक्ष आश्चर्य का एक नमूना मात्र था।

इस मनुष्य को देखकर डॉ. पिनल ने अपना मत यों व्यक्त किया था; 'यह मनुष्य मूढ़ है तथा अंत तक मूढ़ ही रहेगा, इसे शिक्षा के माध्यम से सुधारने की कोशिश बेकार जाएगी।' डॉ. पिनल का यह मत लगभग सही निकला। इस जंगली-मानव के मस्तिष्क में बुद्धि के शिक्षण की एक किरण भी अत्यन्त परिश्रम के बावजूद नहीं डाली जा सकी।

डॉ. पिनल ने तो इस मनुष्य को मूढ़ ठहराते हुए शिक्षण की किसी भी संभावना को नकार दिया, लेकिन ईटार्ड आशावादी था। उसने इस प्राकृतिक मनुष्य पर सामाजिक-शिक्षण के प्रयोग आजमाना तय किया।

ईटार्ड शरीर-विज्ञानी तथा फिलॉसफी का अध्येता था। वह मूक-बधिरों का चिकित्सक था। उसने जो-जो विधियां बहरों में सुनने की क्षमता हेतु आयोजित की थी, उन्हें इस पर भी आजमाने का विचार किया। जंगली मनुष्य के संबंध में ईटार्ड की मान्यता यह थी : 'यह जंगली मनुष्य स्वयं में निम्न कोटि का प्राणी नहीं है। यह पशु भी नहीं, लेकिन शिक्षा के अभाव में इसकी उन शक्तियों का विकास अवरुद्ध हो गया है।' शिक्षा के द्वारा उन शक्तियों के विकास की रुकावटें दूर करने की उसकी धारणा थी। फिर वह हेल्वीटियस के सिद्धांतों का अनुयायी था। वह शिक्षा की सर्वशक्तिमत्ता को स्वीकार करता था तथा यह मानता था कि 'मनुष्य मनुष्य की कृति के सिवाय कुछ और नहीं है।' अर्थात् मनुष्य मनुष्य को जैसा निर्मित करता है, वह वैसा ही बनता है। ईटार्ड रूसो के सिद्धांतों का विरोधी था। रूसो कहता था : 'मनुष्य के द्वारा आयोजित शिक्षा का प्रबंध ही गलत है। वह तो मनुष्य के पतन का कारण होता है।'

लेकिन कुछ ही अर्से में डॉ. पिनल की मदद से ईटार्ड यह जान गया कि यह मनुष्य सिर्फ मूढ़ है। तब उसने अपने फिलॉसफी के उपर्युक्त सिद्धांतों को एक तरफ रखा और शिक्षा के अन्य प्रयोग किए। इस नवीन पद्धति के प्रयोगों से ही प्रायोगिक-शिक्षण का जन्म हुआ है।

ईटार्ड ने अवलोकन से समझा कि यह मनुष्य स्वभाव से सामाजिक कत्तई नहीं। प्रकृति के बीच रहते-रहते यह मनुष्य प्रकृति के साथ इतना एकरूप हो गया है कि उसके तमाम सुख-दुख प्रकृति के घटना-चक्र में समा चुके थे। प्रकृति उसे जितनी प्रिय थी उतनी ही अप्रिय। वह उसे जितना आनन्द देती थी उतना विषाद भी। वह केवल प्रकृति का बालक था। ईटार्ड ने इस बालक के प्रकृति प्रेम के संबंध में अपनी डायरी में जो कुछ लिखा है, वह सचमुच पढ़ने योग्य है। वह लिखता है : 'इस मनुष्य ने जंगल के भय एवं त्रास के बीच भी एक आराम – एक सुख तलाश लिया था, साथ ही भव्य प्रकृति की मैत्री। मानो वह प्रकृति में डूब गया हो, मानो प्रकृति के साथ एकाकार हो गया हो, इस तरह वह प्रकृति के दृश्यों में एकांतिक आनंद प्राप्त करता था। वर्षा की बौछारें, बर्फीली वर्षा, तूफान और प्रभंजन, विस्तीर्ण धरती और मेघ धनुष आदि उसके आनंद के साधन थे – उसके मित्र, संगी, प्रेम के पात्र।

'जब जब भी उसे कमरे में बैठे देखता तब-तब वह एकरस जीवन के त्रास से ऊबे हुए चेहरे से इधर-उधर चक्कर काटता, अनिश्चितता के कारण व्याकुल और घूमती हुई आंखों से खिड़की से बाहर देखता नजर आता। उसका सम्पूर्ण चेहरा दीन और शोकग्रस्त दिखाई देता था। ऐसे समय में यदि कभी एकाएक तूफानी हवा चलने लगती या बादलों के पीछे से छिपा सूर्य बाहर निकल कर सम्पूर्ण वातावरण को प्रकाश से भर देता तो वह जंगली मानव आनंद के प्रवाह से उत्तेजित हो जाता तथा अट्टहास के मारे पूरे कमरे को गुंजा देता। कभी-कभी आनंद की ऐसी उर्मियों के बजाय उसके चेहरे पर भयंकर क्रोध उभर आता। अपने हाथ को मोड़कर कसी हुई मुट्ठियां अपनी आंखों पर रखता और दांत किटकिटाने लगता।

'एक सुबह वह बिस्तर में लेटा था और बाहर जबर्दस्त वर्षा हो रही थी। वह एकाएक जागा, हर्षनाद करते हुए बिस्तर से उछला, पहले खिड़की से देखा और तब दरवाजे पर गया। फिर वह नग्नावस्था में सीधा बाग में भागा। आनंद से गर्जना करते हुए उसने पूरा बाग गुंजा दिया।

भागमभाग मचा दी। फिर वह बर्फ में लोटने लगा। अंजुली भर-भर कर उसने बर्फ इकट्ठी की, फौरन मुंह में भर कर क्षण भर में गटक गया।

'पर प्राकृतिक दृश्यों से हर बार उसे ऐसा ही आनंद मिलता हो, ऐसा नहीं था। कभी-कभी तो प्राकृतिक दृश्यों से उसके चेहरे पर शोक एवं निराशा के चिह्न दिखाई देते। मानो उसे प्रकृति का वियोग सालता हो, ऐसे भाव उसके चेहरे पर दिखते। जब कड़कड़ाती हवा में सब लोग अपने घरों में जा बैठते तब वह ऐवरन के जंगल में जाना पसंद करता था। वह फव्वारे के पास जाता, उसके चारों तरफ चक्कर काटता और आखिरकर फव्वारे के हौज की दीवार पर बैठता। मैं उस जंगली मानव को देखने के लिए घंटों-घंटों आतुर-सा बैठा रहता। जब उसकी आंखें फव्वारे के पानी को एकटक देखती और जब वह समय-समय पर पास पड़े सूखे पत्ते अजाने भाव से पानी में फेंकता तो उसके भाव-शून्य एवं झुर्रियों भरे संकुचित चेहरे पर शोक की छाया के तथा पूर्व-स्मृति-जन्य वियोग-विषाद के गहन बादल छा जाते। यह चामत्कारिक दृश्य मैंने घंटों तलक अनथक भाव से देखा है। उस अपूर्व प्राकृतिक दृश्य को देखने से मुझे जो आनंद मिला, वैसा फिर कभी नहीं मिला।

'जब पूर्णिमा का चांद आकाश के बीचों-बीच आता और जब भी उसकी शीतल किरणें उसके कक्ष में गिरती वह कभी भी बिस्तर से उठे बिना नहीं रहा। वहां बैठे-बैठे मानो वह किसी निरवधि आनंद की समाधि में डूबा हो, इस प्रकार वह चंद्र-प्रकाशित विशाल स्थल-प्रदेश पर अपनी आंखें गड़ाए, गर्दन को जरा बाहर निकाले, स्थिर और सीधा तना हुआ रात्रि का अधिकांश समय बिताया करता। सर्वत्र शांति और निश्चलता थी। करुण रुदन में परिणत होते गहरे निश्वास जैसे उसके श्वासोच्छ्वास से मात्र उसकी स्थिरता तथा निश्चलता बीच-बीच में भंग होती थी।'

ईटार्ड ने कितने धैर्यपूर्वक उस जंगली-मानव का अध्ययन किया था, यह बात मनोविज्ञान के प्रयोगकर्ताओं के लिए स्वयं में एक दृष्टांत है।

उस प्राकृतिक मनुष्य को शिक्षित करने के लिए ईटार्ड ने क्या-क्या प्रयोग किए थे तथा उन प्रयत्नों से शिक्षा जगत में प्रकृति की शिक्षा तथा

सामाजिक शिक्षा के संबंध में क्या-क्या सत्य उभरे थे, यह हमें समझ लेना चाहिए।

ईटार्ड का प्रयत्न जंगली को सामाजिक बनाना था। ऐवरन के जंगली मनुष्य के दृष्टांत से हमने देखा कि प्राकृतिक जीवन तथा सामाजिक जीवन के मध्य कितना अधिक विरोध था। ऐवरन के जंगली मानव के दृष्टांत से ही यह बात स्पष्ट है कि वर्तमान समाज मानव-जाति के नैसर्गिक स्वभाव एवं संवेगों के संयम-त्याग पर आधारित है। प्राकृतिक मनुष्य ने जैसे-जैसे अपने भीतर संयम एवं त्याग की वृत्ति का विकास किया वैसे-वैसे वह सामाजिक बनता गया – यह सच्चाई इस प्राकृतिक मानव के जीवन एवं व्यवहार से हमें जानने को मिलती है। प्रकृति मानव ने भागने-दौड़ने की वृत्ति पर संयम किया, तो उसके कारण वर्तमान समाज की धीमी गति का विकास हुआ और उसने जोर-जोर से चीखने-चिल्लाने की अपनी आदत पर नियंत्रण किया, तो उससे वर्तमान समाज में धीरे-धीरे बातें करने की आदत का विकास हुआ। इस प्रकार प्रकृति पर संयम लागू करने से सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था आई।

प्रकृति जीवन के संयम तथा परित्याग से सुसंस्कृत सामाजिक जीवन उपजा है, यह एक सचाई है। प्रकृति-जीवन का परित्याग करवाने का अर्थ है मनुष्य को धरती माता की गोद से छीनना। हम नवजात शिशु को माता की छाती से खीचंते हैं तो उस पर अत्याचार ही करते हैं –ठीक वैसे ही प्राकृतिक मनुष्य को प्रकृति से खींचना भी एक अत्याचार है, लेकिन इसके बावजूद प्रकृति जीवन से सामाजिक जीवन में प्रविष्ट होना भी तो एक नया जीवन है–जीवन का एक नया पृष्ठ है और उसमें मानव जीवन का उद्धार समाहित है। अतएव सामाजिक जीवन के लिए शिक्षा का प्रबंध व्यवहार्य है।

इन विचारों से प्रेरित होकर ईटार्ड ने प्राकृतिक-मानव की शिक्षा का सामाजिक दृष्टि-बिन्दु से मूल्यांकन करके उसे शिक्षा देने के लिए निम्न रीति से प्रबंध किया। उसने जंगली मनुष्य पर एकाएक सामाजिक जीवन का

बोझ नहीं लादा। वैसा करना असंभव भी था। उसे शिक्षित करने हेतु ईटार्ड ने दो बातें मुख्य रूप से तय की थी। एक तो उसके जीवन की आवश्यकताओं को क्रमशः बढ़ाते जाना तथा दूसरे उसे प्रकृति के बजाय मनुष्य का प्रेम देना। ये दो सिद्धांत तय करके ईटार्ड उस जंगली मनुष्य को प्राकृतिक आवश्यकताओं से निकाल कर बाहर लाना नहीं चाहता था, अपितु उसके आसपास सामाजिक जीवन का वातावरण निर्मित करके उसमें तदनुरूप आवश्यकताएं उपजाना चाहता था। ईटार्ड उस जंगली मानव को लेकर जब पेरिस की गलियों में फिरता था तो उसे दौड़ने से एकाएक रोकने की बजाय स्वयं उसके पीछे-पीछे दौड़ता था; उस पर उसको अपने अनुकूल बनाने की बजाय स्वयं उसके अनुकूल बनता था; उस पर कोई जुल्म अथवा आरोपण करने के बजाय उसके आसपास का वातावरण आकर्षक बनाता था। उसको निरंतर मानवीय प्रेम से ओतप्रोत रखता।

ईटार्ड से हमें यह जाने को मिलता है कि मानवीय-प्रेम प्रकृति के प्रेम से सवाया बढ़ चढ़ कर हो जाता है। ऐवरन के जंगली मनुष्य का प्रेम प्रकृति से हटकर ईटार्ड के लिए ढलने लगता है। वह बर्फ में पड़े रहने तथा तारों से प्रकाशित अनंत आकाश की समाधि में डूबे रहने की बजाय ईटार्ड के प्रेम, उसकी ऊष्मा भरी आत्मीयता तथा उसके प्रेमाश्रुओं के अधीन हो जाता है। एक बार उस जंगली मनुष्य ने गांव में भाग जाने का प्रयत्न किया लेकिन वह अपने आप नम्रता एवं क्षमा भाव से वापिस ईटार्ड के पास लौट आया और जंगल के मौज-मजे छोड़ कर गरमागरम भोजन और नरम बिस्तर ढूंढ़ने लगा।

ईटार्ड से हमें यह सीखने को मिलता है कि प्राकृतिक-मानव को शिक्षा देने का प्रबंध आवश्यक एवं व्यवहार्य है, पर उसके लिए स्वतंत्रता, सामाजिक वातावरण तथा मानवीय प्रेम ही एकमात्र साधन है।

इन विचारों को ध्यान में रखते हुए हमें आगे बढ़ना है।

अलबत्ता, मनुष्य ने अपने सामाजिक जीवन को सुखद बनाया है तथा समष्टि जीवन को जीवंत प्रेम से बांधा है, फिर भी उसको यह बात

कभी नहीं भूलनी चाहिए कि मनुष्य सबसे पहले प्रकृति का बेटा है। वह प्रकृति की गोद से ही मनुष्य की गोद में आया है। प्रकृति ही मनुष्य की आत्मा एवं देह की प्रथम धाय है अतः उसे चाहिए कि वह बाल्यावस्था से ही प्रकृति के अवदान से अपने प्राणों को भर ले। अपने आत्मिक विकास के तत्त्व उसे प्रकृति से ही ग्रहण कर लेने चाहिए। प्रकृति से हमारा प्रगाढ़ संबंध है अतएव उसका हम पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

ऐसे में यही मार्ग समीचीन प्रतीत होता है कि प्रकृति-शिक्षण तथा सामाजिक-शिक्षण को समन्वित किया जाए। प्राकृतिक संबंध से जुड़े बालक को सामाजिक शिक्षण देना जरूरी है क्योंकि सामाजिक जीवन ही उसका अभीष्ट है। लेकिन साथ ही साथ यह भी जरूरी है कि बालक को प्रकृति-जीवन से विलग न होने दें। जिस बालक को प्रकृति-शिक्षण पहले नहीं मिलता, उसका जीवन पड़े-पड़े सड़ जाता है, तब उस पर सामाजिक शिक्षण का लाभ कम असर डालता है। उस पर की गई शिक्षण की मेहनत बेकार जाती है। हमें प्रकृति तथा समाज के मध्य का अंतर समाप्त करना होगा। उसे घटाने के लिए बालक को प्रकृति के परिबलों के बीच रखने तथा उसमें उसे अपना विकास ढूंढ़ने देने की आवश्यकता है। नितांत छोटे बालक को माँ की गोद से छीनना और जबरन उसे विद्यालय भेजना जितना भयंकर अत्याचार है, प्रकृति की गोद में खेलते बालक को वहां से हटाकर सामाजिक शिक्षण की बेड़ियों में जकड़ देना भी उतना ही भयंकर अत्याचार है। माँ के और विद्यालय के बीच में आवागमन करने वाला बालक विद्यालय जाने योग्य बन जाए, यह प्रबंध करना जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार प्रकृति एवं समाज के बीच आने-जाने वाला बालक समाज-प्रिय बने–यह प्रबंध करना भी लाभदायक है। इन दिनों बाल-आरोग्य की दृष्टि से प्रकृति-शिक्षण पर ध्यान दिया जाने लगा है। आजकल उन्हें खुली हवा अथवा बाग-बगीचे में विकसित होने का अवसर दिया जाता है, या फिर समुद्र तट की रेत में घंटों खुले शरीर धूप में खेलने दिया जाता है। अब लोग समझने लगे हैं कि बालक को स्वस्थ रखने के लिए प्रकृति से निरंतर

गहन संबंध बनाए रखना एक उत्तम साधन है। एक बार परिवर्तन के नाम पर बालक के प्राकृतिक अधिकारों पर आधिपत्य जमाने का जो सिलसिला शुरू हुआ था, वह आज धीमे-धीमे ढीला होने लगा है। बालकों के कपड़े छोटे भले ही हों, पर उन्हें आसानी मिले, बूटों की बजाय वे चपलें पहनें, शरीर के निचले अंग खुले रखें। यह प्रवृत्ति प्राकृतिक-शिक्षण के विचारों की साक्षी-स्वरूप है।

बालक को हम जो सामाजिक-शिक्षण देना चाहते हैं, उसका उद्देश्य यह होना चाहिए कि बालक को स्वतंत्र रहने में जो सुख व आनंद मिलता है, उससे कहीं अधिक सुख और आनंद उसे सामाजिक जीवन में प्राप्त हो (बालक को किसी प्रकार का नुकसान किए बगैर)। अतएव बालक की प्राकृतिक स्वतंत्रता हमें उतनी ही मात्रा में लेनी चाहिए कि जिसके परिणामस्वरूप उसे सामाजिक जीवन में अधिक सुख व आनंद मिले और वह भी अन्य निरर्थक क्षतियों का शिकार न बने। यदि हम सचमुच ऐसा कर सकें तभी हम बालक का प्राकृतिक सुख पाने के अधिकारी हैं। पर हम लोग सामाजिक शिक्षण देने के नाम पर उसके प्राकृतिक सुख में बाधा डालने लगते हैं। आजकल ऐसा कहा जाता है कि बाल-शिक्षण में बहुत प्रगति हो गई है, फिर भी हम बालकों को अपनी अंतरात्मा व्यक्त करने तथा अपनी आंतरिक क्षुधा को तृप्त करने से उन्हें अभी तक रोकते रहे हैं। हम अभी तक इस भ्रांत धारणा से मुक्त नहीं हुए कि बालकों को स्वतंत्रता दिए जाने से अत्यंत नुकसान होता है। हम अब-भी उन्हें अपने लिए खिलौने समझते हैं, मानो वे हमारे आनंद, लालन-पालन और लाड-दुलार के पुतले मात्र हों। फूलों से लदे बाग में इधर-उधर दौड़ते बालक को देखकर एक अच्छा-भला शिक्षक और एक समझदार समझी जाने वाली माँ भी यही सलाह देगी कि 'फूलों को मत छूना' या 'घास में उछल-कूद मत करना'। वे यही समझते हैं कि दौड़कर पैरों को गति देने से तथा ताजा हवा लेने से शरीर की सभी जरूरतें पूरी हो जाती हैं। पर यहां वे गलती करते हैं। मात्र शरीर के विकास के लिए बाग में घूमना नाकाफी है। वस्तुतः प्रकृति के सभी अवयवों के

सम्पर्क में आने में ही प्रकृति का शिक्षण समाहित है। प्रकृति के प्राणदायी तत्त्वों की बातें करने, महिमा गाने या मात्र देखने से कोई लाभ नहीं है। जब बालक और प्रकृति के अवयवों के बीच से माता-पिता और शिक्षक अलग हट जाएंगे और बालक प्रत्यक्षतया प्रकृति से सम्पर्क-संसर्ग जोड़ लेगा तभी उसे प्रकृति के बहुमूल्य रत्न प्राप्त हो पाएंगे। जब शारीरिक-विकास के लिए भी इतनी बात है तब भला आत्मिक विकास के लिए तो कहा भी क्या जाए ? शरीर एवं आत्मा के नैसर्गिक विकास का यही रास्ता है कि बालक को प्रत्यक्षतया जीवंत प्रकृति के प्राणवान परिबलों के संसर्ग में छोड़ दें तथा सृष्टि के समृद्ध भंडारों से वह जो कुछ प्राप्त करना चाहता है, उसे प्राप्त करने दें।

प्रकृति से बालक का ऐसा संसर्ग जोड़ने के लिए उसे कृषि-कर्म, वृक्ष-संवर्धन तथा प्राणी-विकास के काम में लगा देना चाहिए। ऐसा करके हमें उसे प्रकृति से भली भांति परिचित कराना चाहिए।

श्रीमती लेटर नामक एक अंग्रेज महिला बाल-शिक्षण कार्य में बागवानी और होर्टिकल्चर को आधारभूत मानती हैं। उनकी मान्यता है कि वनस्पति एवं प्राणि-संवर्धन के दर्शन से बालक आध्यात्मिक एवं धर्म-परायण बनता है, क्योंकि सृष्ट पदार्थों की महिमा को समझते-समझते वह सृष्टा को भी समझने योग्य हो जाता है। उनकी मान्यता है कि बागवानी एवं होर्टिकल्चर के शिक्षण द्वारा बालकों का बौद्धिक विकास कर पाना भी संभव है। यहीं से वे कला की दिशा में प्रवृत्त होने लगते हैं; कृषि के पौधों, जंतुओं, ऋतुओं के बारे में जानना सीखते हैं, उन्हें कृषि की उपज से गृहजीवन तथा आहारशास्त्र का भी ज्ञान होता है तथा परिणामस्वरूप परोसने, व्यवस्था करने तथा बर्तन मांजने-सजाने आदि के काम भी आ जाते हैं।

श्रीमती लेटर का विचार एकदेशीय है, फिर भी इंग्लैंड में उनकी संस्थाएं दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी हैं। उनसे बालकों को पर्याप्त शारीरिक एवं प्राकृतिक शिक्षण मिला है और अंग्रेजों के बच्चे स्वस्थ एवं बलवान बने हैं।

उनके इस प्रयोग से यह तो स्वयंसिद्ध ही है कि अल्पायु में भी बालक को खेती-बागवानी का काम सिखाया जा सकता है।

पेरिस में मंदबुद्धि बालकों के शिक्षण में कृषि-कर्म को शुरू किया गया है। इसके लिए छोटे-छोटे बाग बनाए गए हैं। प्रत्येक छोटे-छोटे बाग में तरह-तरह का धान व अन्य वस्तुएं पैदा की जाती हैं। मंदबुद्धि के बालकों को अनेक बातों का ज्ञान कराया जाता है कि बीज कब और कैसे बोये जाते हैं, फसल का कैसे संवर्धन किया जाता है, पकने पर फसल को कैसे काटा जाता है तथा तरह-तरह की फसलें कब-कब उगाई जाती हैं। साथ ही साथ उनको जमीन जोतने और तरह-तरह की रासायनिक खादों के प्रयोग से मिट्टी को उपजाऊ बनाने के बारे में भी बताया जाता है। इसी प्रकार से उनको बागवानी का काम बताया जाता है। इन कार्यों से प्राप्त होने वाली उपज का अर्थशास्त्र भी उन्हें बताया जाता है। इस प्रकार के शिक्षण के परिणामस्वरूप जब ये मंदबुद्धि बालक बड़े होते हैं तो खेती या बागवानी के उद्योग के द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करने योग्य बन जाते हैं।

ऐसे शिक्षण के द्वारा बालकों को बौद्धिक-शिक्षण मिलता है और उनके भावी उद्योग की समस्या का समाधान भी हो जाता है, लेकिन बाल-शिक्षण में इस प्रकार के शिक्षण को मुख्य स्थान प्राप्त नहीं है। नितांत अल्प-आयु के बालकों को बौद्धिक शिक्षण प्रदान करने में अथवा उन्हें उद्योग सिखाने में शिक्षण की सार्थकता पूरी नहीं हो जाती। इस अल्पवय में तो वही शिक्षा सच्ची शिक्षा है जो उनके वैयक्तिक, शारीरिक एवं बौद्धिक विकास में सहायक सिद्ध हो। इस वय में बालकों को अमुक-अमुक ज्ञान देना अथवा अमुक-अमुक धंधों के लिए तैयार करना कम लाभदायी होता है। बालक बागवानी के द्वारा पेड़-पौधों के नाम न जानें, उनके चित्र न बना पाएं, ऋतुओं और जमीन की किस्मों के ज्ञाता न बनें, तब भी इसके माध्यम से उन्हें अपने जीवन का सम्यक् रीति से विकास करने वाली शिक्षा मिल सकती है और उस प्राणदायी, न कि शिक्षणपोषी या उद्योगपोषी शिक्षा का प्रबंध हमें करना है।

डॉ. मोंटेसरी हमें बागवानी, कृषि एवं पशुपालन के शिक्षण से बालकों को प्राप्त होने वाले लाभों के बारे में निम्न रीति से जानकारी प्रदान करती हैं। इस शिक्षण में नैतिक विकास सहज स्वाभाविक बनता है और वह धार्मिक विकास के सुदृढ़ आधार के रूप में चिर स्थाई रहता है। लाभ इस प्रकार हैं :

1. प्रकृति-शिक्षण से नीति-शिक्षण उद्‌भूत होता है। वनस्पति तथा प्राणि-संवर्धन के अवलोकन से बालक का ध्यान मानव-विकास की प्रक्रिया की तरफ जाता है। बालक पौधों एवं पशुओं का बड़े ही गौर से अवलोकन करता है, मनोयोग से उनकी जरूरतें पूरी करता है तथा उनके विकास में आनंद लेता है। इस ज्ञान से उसे अपने चारों तरफ अवलोकन करने वाले तथा आवश्यकताएं पूरी करने वाले शिक्षक का महत्त्व समझ में आता है। धीमे-धीमे यह बात उसकी समझ में आती है कि जिस प्रकार वह स्वयं वनस्पति एवं पशुओं की तरफ उन्मुख है उसी तरह शिक्षक भी उसकी तरफ उन्मुख है। वह अपने निजी अनुभवों के द्वारा दूसरों के हृदय को परख सकता है तथा उनकी हार्दिक संभाल एवं प्रेम की सच्ची कद्र कर सकता है। इस आंतरिक अनुभव के परिणामस्वरूप बालक माता-पिता व गुरु की महत्ता को भलीभांति समझ लेता है। थोथे नीतिशास्त्र एवं बौद्धिक शिक्षण से बालक को जो ज्ञान नहीं दिया जा सकता वह ज्ञान और वह भावना बालक के हृदय में वनस्पति एवं पशुओं-प्राणियों के अवलोकन से सहज ही उद्‌भूत हो जाती है। यहां बागवानी तथा प्राणि-संवर्धन से नैतिक विकास का बीजारोपण होता है। बालक इस कार्य से चेतना जगत के साथ एक प्रकार का साम्य, एक जीवंत सम्बन्ध महसूस करता है।

इस कार्य से बालकों की अवलोकन क्षमता विकसित होती है, जो वैज्ञानिक ज्ञान अर्जित करने का प्रथम सोपान मानी जाती है।

2. प्रकृति-शिक्षण में स्व-शिक्षण के मूल निहित हैं। पौधों और प्राणियों के पालन-पोषण में लगे हुए बालक को जिस समय अपने अनुभव से यह पता लगता है कि पौधों का जीवन यथासमय ध्यानपूर्वक आहार देने

पर निर्भर करता है, उन्हें पानी-खाद न देंगे तो वे सूख जाएंगे, प्राणी भूखे मर जाएंगे–उसी समय से मानो उसे अपने जीवन के परम कर्त्तव्य का एकाएक ज्ञान होता है, वह जागृत–सावधान हो जाता है –मानो उसके भीतर निरंतर एक आवाज सुनाई देती है कि जो काम तुमने अपने जिम्मे लिया है, उसे हर्गिज भूल मत जाना। अंतर्मन उसे निरंतर याद दिलाता रहता है, अपने दायित्व-बोध का स्मरण कराने वाली यह आवाज न माता-पिता की आज्ञा होती है, न गुरु का उपदेश। यह आवाज बालक की देखरेख में पनपने वाले जीवों की है। यह आवाज हर पल अपने विकास के लिए बालक को निमंत्रित करती है। बालक जिन प्राणियों का पालन-पोषण करता है और जिन पौधों की देखभाल करता है उनके साथ उसकी सुदृढ़ मैत्री, ऐसा एक दृढ़ संबंध बन जाता है कि माता-पिता अथवा गुरुजी उसे दायित्व-बोध कराएं या न कराएं, धार्मिक-शिक्षा उनमें धर्मबुद्धि उत्पन्न करे या न करे, तब भी बालक अपने इन मित्रों के लिए सभी तरह से काम करता ही रहता है। बिना किसी बाहरी आदेश, उपदेश या प्रलोभन के उनका यह मित्र-कर्म चलता रहता है। इसी में स्व-शिक्षण का रहस्य समाहित है।

अंडों को सेने वाले कबूतरों को कितनी ही बार बिना थके पानी व अनाज के दाने लाकर देते रहने के बाद एक दिन अचानक उनके आसपास नन्हें-नन्हें बच्चों को चूं-चूं करते हुए देखना; कल तक बिना हिले डुले निश्चल बैठी मुर्गी के इधर-उधर नन्हें-नन्हें चूजों को घूमते-फिरते देखना तथा अपनी मां की रसोई से काटे हुए साग-भाजी के पत्ते खिला-खिला कर लाड-दुलार से पाले गए खरगोश-युगल के आसपास छोटे-छोटे कोमल-कोमल बच्चों को एकाएक देखना एक अविस्मरणीय आनंद है। यह आनंद बालकों के द्वारा की गई सेवा का प्रतिफल है। बालकों का सम्पूर्ण विकास इसी आनंद में समा जाता है।

मिलान की शाला में कई प्रकार के प्राणी पाले गए हैं, जिनमें दो अमेरिकी बत्तकें भी हैं। उनके लिए एक छोटा-सा बाड़ा बनाया गया है।

शाम को वह बाड़ा बंद कर दिया जाता है। बच्चे बारी-बारी से उस बाड़े की देखभाल करते हैं। सवेरे आते ही बच्चे आनंद के साथ बाड़े का दरवाजा खोलते हैं और उनके लिए पानी व घास लेने दौड़ते हैं। दिन भर वे बड़े ही गौर से उनकी देखरेख करते हैं और शाम को वे उनके लिए रात भर के खाने-पीने की व्यवस्था करके दरवाजा बंद करते हैं। यह चामत्कारिक दृश्य है। बालकों का यह प्रेम अद्‌भुत है। शिक्षकों की मान्यता है कि अन्य शैक्षिक प्रवृत्तियों में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक आकर्षक तथा उपयोगी है। जब काफी देर तक अन्य बालक अपने-अपने मनपसंद कामों में तल्लीन होते हैं तब दो-तीन बालक शांति के साथ उठते हैं और अपने पाले गए जानवरों की सुध-बुध लेने निकलते हैं। वहां जाकर वे उनकी देखभाल करते हैं, उनके पास बैठते हैं, उनकी आदतें देखते हैं और उस काम में खो जाते हैं। कभी-कभी कक्षा में जब एक भी बालक नजर नहीं आता तो शिक्षक उनकी प्रवृत्ति का अवलोकन करने निकलता है पर बच्चे हौज में तैरने वाली रंगीन मछलियों को देखने में खोए मालूम पड़ते हैं।

मिलान में एक बार एक सुन्दर और अद्‌भुत घटना घटी। कबूतरों ने अपने अंडों को सेया और उनसे छोटे-छोटे बच्चे निकले। नन्हें-मुन्ने बालकों के लिए तो यह महान उत्सव का प्रसंग था। उनकी खुशी भीतर समा नहीं रही थी। कबूतरों के बच्चों को देखकर वे अत्यन्त खुश थे। कुछ हद तक यही लग रहा था कि मानो वही उनके माता-पिता हों। ऐसा स्नेह का भाव उनके अभिमान का स्पर्श करने वाले एक भी पुरस्कार से शायद ही पैदा हो सकता था। उनकी यह भावना उनके स्वाभाविक प्रेम से ही उत्पन्न हुई थी। यह प्रेम सहवास का था, आदेश या इनाम का नहीं।

वनस्पति के जीवन में बालकों को कम आनंद नहीं आता। वे पौधों को पानी पिलाना कभी नहीं भूलते। जब पौधे पर नए-नए पत्ते आते हैं, कलियां लगती हैं, फूल खिलते हैं तो बालकों को जन्मोत्सव के जितना आनंद आता है। एक दिन जब मोंटेसरी शाला में एक गुलाब के पौधे पर सुन्दर गुलाब सूर्योदय के साथ खिला तो बालकों का समूह उसके चारों

ओर घेरा बनाकर बैठ गया और वे लोग गुलाब की शांत, स्थिर समाधि में गहरे खो गए।

3. प्रकृति की शिक्षा धैर्य एवं विश्वास की पोषक होती है। जमीन में बीजों को बोने की क्रिया से लेकर जब तक उसका अंकुर नहीं फूटता, उस पर धीमे-धीमे डालियां व पत्ते नहीं आ जाते और फिर फूल व फल नहीं आ जाते, तब तक की सम्पूर्ण क्रिया को निरंतर देखने में बालक की अक्षय श्रद्धा एवं धैर्य की पूर्ण शिक्षा समाहित रहती है। धैर्य एवं आशा भरे उत्साह के गुण में श्रद्धा का मूल निहित होता है और श्रद्धा जीवन की आधारशिला है। जीवन की यह फिलोसोफी बालक यहां स्वाभाविक रीति से अपने जीवन में उतारते हैं। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों निःसंदेह यही होगा–इस तरह प्रतीक्षा करने, तपश्चर्या करने में ही श्रद्धा का बल समाया हुआ है। यही बल बालक वनस्पति विकास के अवलोकन द्वारा स्वयं में भरता है। जो धीरज और विश्वास शास्त्र सुनने से पैदा नहीं होता वह इस बागवानी के काम से उत्पन्न होता है।

4. प्रकृति बालक को उदारता एवं समभाव का सच्चा पाठ पढ़ाने वाली कुशल शिक्षिका है। बालकों और उनकी संभाल के नीचे पलने वाले प्राणियों के बीच एक तरह का सहवास-जन्य सहभाव होता है। इसके माध्यम से बालकों को प्राणी-जीवन के व्यापारों में बड़ा ही आनंद प्राप्त होता है। उनको लटों और खाद में पैदा होने वाले नन्हें-नन्हें जीवों तक में इतना मजा आता है कि उन जीवों को देखने से हमें जो ऊब-उकताहट पैदा होती है, वह उन्हें नहीं होती। हम लोग तो प्रकृति-जीवन से इतनी दूर चले आए हैं कि प्रकृति का आनंद हमें त्रासदायी और पीड़ाजनक प्रतीत होता है। प्राणियों के तथा हमारे बीच परस्पर विश्वास और श्रद्धा का भाव पैदा हो, यही अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसी में विश्वव्यापी प्रेम एवं ऐक्य का मार्ग विद्यमान है। प्रकृति हमें उदारता का भाव अनोखी रीति से पढ़ाती है। उसके पास व्यापारियों वाले खाते-बही नहीं होते कि जितना तुम दोगे उतना ही वापिस पाओगे। ऐसी प्राकृत प्रथा प्रकृति के घर में नहीं है। उसकी सेवा के

बदले में मिलने वाली उसकी उदारता निःसीम है। प्रकृति को हम जितना देते हैं उससे अनेक गुणा वह हमें प्रदान करती है। उसके उपहारों की सुंदरता और विविधता तो अनंत है। बालक जमीन में एकाध बीज बोता है, और उसे पानी पिलाता है अथवा कोई फल वाला पौधा रोपता है और उसकी देखभाल करता है, इसके बदले में फल-फूलों के पौधे बालक के चरणों में ढेर सारे फल-फूलों की भेंट लाकर अर्पित करते हैं। बालक के थोड़े से श्रम के बदले में यह बहुमूल्य उपहार! प्रकृति मेहनत का बदला नहीं देती अपितु वह परिश्रम के मूल में मनुष्य के हृदय में विद्यमान जीवंत प्रेम का सम्मान करती है।

प्राणवान प्रकृति जो उदार उपहार प्रदान करती है और निर्जीव यंत्र अथवा व्यापारी जो बदले में हमें प्रदान करते हैं उनके महत्त्व को लेकर दोनों में बहुत-बहुत अंतर है। प्रकृति की उत्पत्ति तथा मानुषी उत्पत्ति के बीच का गहरा अंतर बालक प्रकृति से बिना परिश्रम किए एक परम सत्य के बतौर सीखता है। प्रकृति हमें इतना महत्त्वपूर्ण ज्ञान देती है कि उसकी उदारता सबके लिए मुक्त है, बस जरा-से परिश्रम करने की जरूरत है।

5. मनुष्य जाति के प्राकृतिक विकास-क्रम से गुजरना बालक के लिए स्वाभाविक है। प्रकृति-शिक्षण के द्वारा बालक का वैयक्तिक विकास उसके समष्टि विकास के साथ समरूप होता है। जब बालक का प्राकृतिक-विकास होता है तभी वह समष्टि का सच्चा अंग बन सकता है। प्राकृतिक मनुष्य वर्तमान कृत्रिम संस्कृति के पास कृषि के मार्ग से चलकर पहुंचा है। कृषि ने मनुष्य को प्रथम संस्कृति प्रदान की है। मनुष्य जैसे-जैसे जमीन से समृद्धि लेता गया है वैसे-वैसे उसे आज का यह विकास प्राप्त होता गया है। कृषि ने मनुष्य के हाथ में विकास की बहुमूल्य भेंट धर कर मानव-जाति पर महान उपकार किया है। कृषि की महिमा कम नहीं है।

जिस मार्ग से होकर मानव संस्कृत हुआ है, उसी मार्ग से होकर मनुष्य को संस्कृत होने के लिए चलना होगा।

यदि हमें एक बार यह बात समझ में आ जाए कि प्रकृति में शिक्षा देने की अद्‌भुत शक्ति है तो प्रकृति शिक्षण प्राप्त करने का प्रबंध करना कोई कठिन नहीं है। विद्यालय बालकों के शारीरिक विकास के लिए बड़े-बड़े मैदान और अखाड़े भले ही न जुटाएं पर खेती के लिए थोड़ी जमीन और कबूतरों के रहने के लिए थोड़ी जगह तो कठिनाई के बगैर जुटा ही सकते हैं। इतनी व्यवस्था आध्यात्मिक-शिक्षण के लिए पर्याप्त है। और कुछ संभव न हो तो एकाध खिड़की में एकाध गमला रखना भी कोई कम महत्त्व की बात नहीं है। □

प्रकरण सत्रहवाँ

शारीरिक शिक्षण

व्यायाम

डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं कि व्यायाम संबंधी हमारे विचार अधिकांशतः अपूर्ण हैं। शालाओं में आज जो कवायद कराई जाती है, उसे ही हम व्यायाम के रूप में मानते आए हैं। कवायद सामूहिक आयोजन होता है, जिसका उद्देश्य अमुक प्रकार के आदेश के द्वारा अमुक प्रकार की क्रियाएं कराना होता है। ये क्रियाएं आदेश के अनुसरण पर की जाती हैं अतः इनके पीछे क्रिया करने वाले बालक की स्वयंस्फूर्ति का अभाव रहता है, परिणामतः तमाम क्रियाएं बालकों को बोझ स्वरूप लगती हैं। शारीरिक विकास के निमित्त इस प्रकार की बोझ स्वरूप क्रियाओं को चुनने का क्या उद्देश्य होगा, यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचने पर समझ में नहीं आती। शायद ही किसी मनोवैज्ञानिक ने इस विचार की पुष्टि की हो। हाँ, डॉक्टर लोग जड़ता-प्राप्त स्नायुओं को सचेतन बनाने अथवा पक्षाघात के कारण प्राणहीन हो जाने वाले अंगों में पुनः प्राणों का संचार करने के लिए इस प्रकार की कसरतों का उपयोग करते हैं। विद्यालयों में जैसी कसरतें करवाई जाती हैं वैसी तो डॉक्टर लोग आंतों में आई मंदता का उपचार करने के लिए उपाय के बतौर निर्देशित करते हैं। इन मरीजों को ऐसी क्रियाएं करने से लाभ मिलता है। पर शालाओं में बालकों को ये कसरतें किसलिए कराई जाती हैं और उनसे क्या-क्या लाभ होते हैं, यह बात मेरी समझ के बाहर है। इनके अलावा कुछ अन्य कसरतें भी करवाई जाती हैं। शारीरिक बल का प्रदर्शन करने वाले जिस तरह से अपने शरीर को कसते हैं, उस तरह की कसरतें प्रथम सोपान के बतौर यहां कराई जाती हैं। ये कसरतें शारीरिक विकास की साधक नहीं अपितु बाधक होती हैं। इन क्रियाओं को मैं कसरत या व्यायाम का नाम नहीं दे सकती। मैं जिस

व्यायाम के बारे में लिखना चाहती हूं वह आज की शालाओं में प्रचलित व्यायाम से अलग तरह का है। यदि मैं वर्तमान प्रचलित व्यायाम की हिमायत करूंगी तो सभी लोगों को मेरी व्यायाम योजना का सख्त विरोध करना चाहिए। जो क्रियाएँ बालकों के शारीरिक आंदोलन (यथा-चलना, सांस लेना, बोलना) के स्वाभाविक विकास में मदद करती हैं, जो क्रियाएँ मंदबुद्धि वालों अथवा अन्य कमियों वाले बालकों के शारीरिक विकास की रक्षा करती हैं तथा जो क्रियाएँ जीवन के अत्यंत साधारण कार्यों में उपयोगी गतिविधियों को उत्तेजित करती हों (यथा–कपड़े पहनना, कपड़े उतारना, बटन लगाना-खोलना, बूटों के तस्में बांधना-खोलना, वस्तुओं को शांतिपूर्वक किसी स्थान पर ले जाना आदि) उन तमाम क्रियाओं को मैं व्यायाम अथवा स्नायु-शिक्षण का नाम देती हूं।

तीन से छह वर्ष की उम्र के बालकों के संरक्षण के लिए व्यायाम जरूरी है, यह उम्र ही ऐसी है कि यदि अमुक प्रकार की कसरतों की व्यवस्था न की जाए तो शरीर अविकसित या अपूर्ण विकसित रह जाता है। इस उम्र में शारीरिक तथा आरोग्य की दृष्टि से अमुक कसरतें चलानी जरूरी हैं। छोटे बच्चों की कमर से नीचे के अवयवों की बजाय ऊपर के अवयव अधिक विकसित और बड़े होते हैं। नवजात बालकों में धड़-शीश से जांघ के जोड़ों तक की लंबाई पूरे शरीर की लंबाई की तुलना में 68 प्रतिशत के लगभग होती है। अर्थात् अन्य अंगों की लंबाई शरीर की सम्पूर्ण ऊंचाई की तुलना में 32 प्रतिशत के लगभग होती है। शरीर की वृद्धि के साथ यह अनुपात स्पष्टतया बदलता जाता है, उदाहरणार्थ बड़े आदमी का धड़ शरीर की पूरी लम्बाई की आधी लंबाई तक पहुंचता है तथा साधारणतया धड़ व पैरों के बीच 51 अथवा 52 प्रतिशत जितना दोनों का परिणाम रहता है। नवजात शिशु तथा बड़े आदमी के मध्य यह शारीरिक अंतर इतना बड़ा होता है और वह इतनी अधिक धीमी गति से कम होता जाता है कि छोटी उम्र के बालकों में तो पैरों की तुलना में धड़ अधिक परिमाण में विकसित रहता है। पहले वर्ष धड़ 68 प्रतिशत से 65 तक आता है, दूसरे वर्ष 63 तक आता है और तीसरे वर्ष 62 प्रतिशत तक आ जाता है।

जिस उम्र में बालक शाला में प्रविष्ट होता है उस उम्र में बालक का शरीर धड़ की अपेक्षा पैरों की तुलना में बहुत बड़ा होता है अर्थात् पैरों की लंबाई मात्र 38 प्रतिशत होती है। छह तथा सात वर्ष के मध्य धड़ और नीचे के अवयवों के बीच 57 और 56 प्रतिशत का परिमाण रहता है। इस समय बालक ऊंचाई में अच्छी तरह से बढ़ता है। तीन वर्ष की उम्र में बालक की ऊंचाई 105 सें.मी. होती है। इस समय धड़ और नीचे के अवयवों में लंबाई के अनुपात में काफी बड़ा अंतर आ जाता है। इस उम्र में हड्डियां कच्ची होती हैं तथा उनके विकास की क्रिया पूरी नहीं हुई होती। इस कारण पैरों पर अधिक वजन पड़ता है। यदि हम इन तमाम बातों पर ध्यान रखेंगे तो जो नियम चलने के बारे में हमारे लिए हैं वही नियम हम बालक के लिए लागू नहीं करेंगे अर्थात् चलने की क्रिया में जो संतुलन हम निभाते हैं उसकी बालक से अपेक्षा नहीं रखेंगे। दुर्बल बालक को सीधा खड़े रखने से तथा चलाने से थकान आती है। पैरों की लंबी हड्डियों पर शरीर का वजन आने से पैरों की हड्डियां बांकी हो जाती हैं। ऐसे उदाहरण गरीब लोगों के बालकों में अधिक देखने को मिलते हैं, जिन्हें पर्याप्त पोषण नहीं मिलता।

शारीरिक शक्ति की दृष्टि से यदि हम बालकों को लघु मानव के रूप में समझने का कष्ट करेंगे तो गलती करेंगे, क्योंकि बालकों के शरीर उनकी उम्र के परिमाण में, कद में तथा लक्षण में हमसे अलग तरह के होते हैं, हम सीधे लेट कर हवा में पैरों को नहीं हिलाते, जबकि नन्हें बच्चे बिस्तर में सीधे लेटे-लेटे अपने नन्हें-नन्हें पैर हवा में उछालते हैं। इसका कारण यह है कि बालक वैसा करके अपने शरीर के नन्हें कद का विकास करते हैं। बालक को घुटनों के बल घिसटते हुए चलना अच्छा लगता है, उसका कारण यह है कि चौपाये प्राणियों की तुलना में उसके पैर छोटे पड़ते हैं। हम लोग बालक की शारीरिक जरूरतों को समझने में उनके बीच बाधा खड़ी कर बैठते हैं। हम नहीं चाहते कि बालक पैरों को घिसटते हुए या घुटनों के बल चले। उनका यों चलना हमें मूर्खता लगता है। हम उन्हें जमीन में लोटने, लम्बे लेट कर सोने तथा आलस खाने से रोकने लगते हैं तथा हमारी रुकावटें से उन्हें

हमारे साथ चलने को बाध्य करते हैं। हम यह कहते हैं कि हमें बालक को स्वच्छंदी नहीं बनाना। यह भयंकर भूल है। इसकी वजह से अनेक बालकों के पैर मुड़े हुए देखने में आते हैं। बाल-आरोग्य की इस महत्त्वपूर्ण घटना से माताओं को सुपरिचित करना बहुत जरूरी है। मैंने जो व्यायाम की पद्धति निर्मित की है, वह बालक के शारीरिक विकास के लिए वांछित लाभ प्रदान करती है और उन्हें निरर्थक श्रम से मुक्त करके शारीरिक विकास के सच्चे मार्ग पर ले जाती है।

1. लकड़ी की एक बाड़, जो व्यायामशाला में प्रयुक्त पैरेलल बार के जैसी हो, पैरों के विकास के लिए उपयोगी साधन है, शरीर के भार से दबे हुए पैरों को आराम देने का यह अच्छा साधन है। यह साधन डॉ. मोंटेसरी के मस्तिष्क में कैसे आया, इस संबंध में वे लिखती हैं : 'एक रोज अध्यापक बालकों को बगीचे में कवायद करा रहा था। बगीचे के चारों ओर लोहे के मजबूत रस्सों की बाड़ थी। लोहे के लंबे-लंबे रस्से बीच-बीच में खड़ी लकड़ी पर टिके थे। इस बाड़ के बीच-बीच में बैठने के लिए छोटी-छोटी बैठकें थीं। कवायद करते-करते बच्चे थक जाएं तो बाड़ के पास छोटी-छोटी कुर्सियां भी थोड़े-थोड़े अंतर से रखी थीं। फिर भी देखने में यह आया कि कोई बच्चा जब कवायद करते हुए थक जाता तो एकाएक अपना मंडली से छूटकर कुर्सी अथवा बैठक पर बैठने की बजाय रस्से के पास जाता था तथा बाड़ का ऊपर वाला रस्सा पकड़ कर अपने पैर बाड़ के नीचे वाले रस्से पर टेकता और पेड़ की डाली से लटक कर जैसे कोई चलता हो, वैसे रस्से के सिरे पर खड़ा होकर चलता था। इसमें उसे बहुत आनंद मिलता था। बच्चे अपने शरीर को हाथों पर लटकाते हुए चलते थे। इस प्रकार वे शरीर का बोझ पैरों पर डाले बिना चल सकते थे। जमीन पर सीधे लेट कर पैरों को हवा में ऊपर उठाने की बजाय इस तरह अधर लटक कर पैरों को मुक्त करने की एक नई कसरत बालकों के हाथ लग गई थी। इसी अवलोकन से मैंने यह पहली कसरत निकाली है।'

2. दूसरी कसरत सेगुइन ने ईजाद की है। इसका उद्देश्य पैरों का, विशेष रूप से घुटने का विकास करना है। इसका साधन है एक प्रकार का

झूला, जिसे ट्रेम्पोली कहा जाता है। झूला अन्य झूलों से अलग किस्म का है। इसकी बैठक इतनी चौड़ी है कि इस में बैठे बालक अपने पैर लंबे करें तब भी नीचे नहीं लटकते अपितु एक तख्ते पर आ जाते हैं। यह नन्हा पट्टा मजबूत रस्से से अधर लटका हुआ होता है। सामने होती है दीवार जिस पर एक स्प्रिंगदार पट्टा लगा होता है। झूलने वाला बालक अपने लंबे पैरों को झूलते समय उस पट्टे से टकराता है। पैर टकराने पर वह स्प्रिंगदार पट्टा पीछे हटता है और वापिस पलट कर बालक के पैरों को धक्का मारता है। इससे झूला अपने आप चलता है और बार-बार धक्का लगने से बालक के पैर मजबूत होते हैं। झूले पर बैठते समय बालक के पैरों पर शरीर का वजन नहीं रहता और पैरों की अच्छी कसरत हो जाती है।

3. तीसरी कसरत पेंडुलम की है। इस खेल को एक से अधिक बालक खेल सकते हैं। एक डोरी से गेंद बांध दी जाती है। दूर-दूर बैठे बालक इस गेंद को हाथ से मारते हैं। गेंद एक बालक से दूसरे बालक के पास और दूसरे बालक से तीसरे के पास जाती है, इस तरह एक मजेदार खेल खेला जाता है। इस खेल से हाथ, पीठ तथा आँखों की कसरत होती है। दूर से आने वाली गेंद को किस तरह हाथ लगाया जाए, इसी में आंख की कड़ी परीक्षा हो जाती है।

4. चौथा खेल लकीर का है। चॉक से जमीन पर लकीर खींची जाती है। बच्चे इस पर चलते हैं। इससे उनमें अमुक निश्चित दिशा में चलने की शक्ति तथा व्यवस्था की जानकारी विकसित होती है।

5.पाचवां खेल गोलाकार सीढ़ी (राउंड स्टेयरकेस) का है। गोलाकार सीढ़ी के एक तरफ कटघरा होता है और दूसरी दिशा खुली होती है। इस पर चलने से बालक सीढ़ी पर ऊपर-नीचे जाना-आना सीख जाते हैं और उनके शरीर का संतुलन बनता है। सीढ़ी के पगथिये नीचे और उथले होने चाहिए। ऐसी सीढ़ी पर चलने से बालक को बड़ों के लिए रखी गई सीढ़ियों पर आसानी से चढ़ना आ जाता है।

6. लकड़ी का एक प्लेटफार्म बना होता है जिसे हनुमान कूद (लांग जम्प) कहा जाता है। उस पर तरह-तरह के रंगों की लकीरें होती हैं,

जिनसे यह जाना जा सकता है कि बालक ने कितनी लम्बी छलांग मारी। इसके साथ एक लंबी लकड़ी के पगथियों जैसी निसैनी होती है। उस पर चढ़ कर हनुमान-कूद के लिए रखे गए पट्टे पर कूदा जाता है।

7. गांठें लगी हुई रस्सेदार सीढ़ी का खेल भी एक उपयोगी साधन है। इस पर बच्चे तरह-तरह से शरीर को मोड़ने की कसरतें कर सकते हैं।

इन समस्त कसरतों से बालक अपने शरीर का संतुलन तथा स्नायुओं का सहयोग लेना सीखता है। इनसे उसका सीना विकसित होता है तथा हाथ पकड़ने की शक्ति मजबूत होती है। ऊपर चलने की, गेंद फेंकने की, सीढ़ियों पर चढ़ने-उतरने की, रस्से पर लटकने तथा कूदने की जो कसरतें बताई गई हैं, वे बालक के शारीरिक-विकास की प्रेरक हैं।

प्रकीर्ण कसरतें

जिन खेलों के लिए विशेष साधनों की योजना नहीं करनी पड़ती, वे प्रकीर्ण कसरतें हैं। इनके दो भाग किए जा सकते है : एक-प्रेरित खेल, दूसरे स्वतंत्र खेल। प्रथम खेलों में कवायदों का समावेश किया गया है। यहां कवायद का उद्देश्य ताल का ज्ञान सिद्ध करना नहीं अपितु चलने की सुंदर छटा सीखना। कवायद के साथ छोटे-छोटे गीत गाये जाएं तो बहुत अच्छा! इसके पीछे कारण यह है कि साथ-साथ गाने से फैंफड़ों को व्यायाम मिलता है और श्वासोच्छ्वास की क्रिया उत्तम रीति से चलती है। इसके अलावा संगीत के साथ फ्रॉबेल द्वारा निर्देशित कई खेल उपयोगी हो सकते हैं। स्वतंत्र खेलों में गेंद आदि के खेलों को समाविष्ट किया जा सकता है। कई तरह के खेल पेड़ों पर भी खेले जा सकते हैं।

शैक्षिक खेल एवं कसरतें

यहां दो प्रकार की कसरतें ली जा सकती हैं : एक जमीन को जोतने की तथा दूसरी प्राणियों एवं वनस्पति के संवर्धन की। इस प्रवृत्ति में बालकों को स्नायुओं के सहयोग की अनेकानेक गतिविधियां करनी पड़ती हैं। जोतने, पौधे रोपने, खेती या पशु संवर्धन में कई तरह के पदार्थों को

इधर से उधर लाने, ले जाने में स्नायु संबंधी कसरतें होती हैं। पक्षियों को दाने डालने में तथा बाग के या पिंजरों के द्वार खोलने-बंद करने में भी ऐसी कसरतें होती हैं। ये करसतें खुली हवा में की जाती हैं अतः ये हमारे लिए बहुमूल्य हैं। इनके अलावा हमने उगंलियों के स्नायुओं को कसने के लिए भी कुछ कसरतें सम्मिलित की हैं। ये कसरतें कपड़े पहनने-खोलने आदि व्यावहारिक कार्यों से संबंधित हैं। इनके लिए कई प्रकार के प्रबोधक साधन काम में लाये जाते हैं। इनमें लकड़ी के फ्रेम हैं। फ्रेमों पर आमने-सामने कपड़े या चमड़े के दो टुकड़े लगाए गए हैं। उन पर बटन, तस्मे या हुक लगे होते हैं।

बालगृह में दस प्रकार के फ्रेम रखे जाते हैं। प्रत्येक फ्रेम बालकों को कपड़े पहनने या खोलने में एकाध उपयोगी क्रिया का ज्ञान प्रदान करता है।

इन साधनों के द्वारा बच्चे खेल ही खेल में कपड़े पहनने-उतारने में उंगलियों की आवश्यक वर्जिश करना सीख जाते हैं। इन फ्रेमों को काम में लाकर हम बच्चों को कपड़े पहनना-उतारना सिखाए बिना ही उन कामों को करने में उन्हें सफल बना सकते हैं। इन फ्रेमों को प्रयोग में लाते-लाते बच्चे स्वयं एकाएक समझ जाते हैं कि उन्हें अपने बटन खोलने-बंद करने का तरीका आ गया है। इस समझ से उनके आनंद में वृद्धि होती है और वे बड़ों की सेवा-टहल लेने से मुक्त हो जाते हैं, बल्कि सेवा की गुलामी के दुख से बच जाते हैं। बहुधा बालगृह में दस बालक एक साथ फ्रेमें लेकर गोल टेबिल के चारों ओर बैठ जाते हैं। जब हम बालकों को तल्लीन भाव से फ्रेमों पर काम करते देखते हैं तो बालगृह का नजारा बदल कर उद्योगगृह जैसा लगने लगता है।

श्वासोच्छ्वास की कसरतें

इन कसरतों का प्रयोजन श्वासोच्छ्वास की क्रियाओं को व्यवस्थित बनाना है अर्थात् बालकों को श्वासोच्छ्वास की कला सिखाना है। इनसे

बालक के बोलने की विधि में बदलाव आता है। प्रोफेसर सला ने जो कसरतें प्रस्तावित की हैं उनमें से हमने कुछ को काम में लेकर देखा है। वे इस प्रकार हैं :

मुँह खूब खुला हुआ, जीभ सपाट और हाथों को कमर पर रख कर खूब गहरे सांस लिये जाएं। कंधों को वेग से ऊंचा उठाना तथा डायफ्राम से नीचे लाना। फिर सांस धीरे-धीरे छोड़ना। कंधे धीमे-धीमे नीचे लाना तथा सामान्य स्थिति में आना।

सांस की क्रियाओं हेतु शिक्षकों को कुछ अन्य व्यायाम भी अपनी ओर से सम्मिलित कर लेने चाहिए।

होंठ, जीभ तथा दांतों के योग्य उपयोग के लिए भी कसरतें जरूरी हैं। ये कसरतें शुद्ध उच्चारण के लिए बालकों की जीभ, होंठ तथा दांतों को संस्कारित करती हैं। पहले ये कसरतें बच्चों को सामूहिक रूप से करनी चाहिए। फिर बालक की जांच करके व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक को अलग-अलग करानी चाहिए। बालक से प्रथम 'सिलेबल' (पाद) जोर से उच्चरित कराया जाए। जब सारे बालक एक साथ बोलें, तब एक-एक बालक को अपने पास बुला कर उससे वह शब्द बुलवाया जाना चाहिए। सही उच्चारण करने वाले बालकों को दाहिनी तरफ खड़ा करें तथा अशुद्ध उच्चारण करने वालों को बांई ओर। अब हमें बालक की उम्र तथा वाणी के दोषों पर विचार करने की जरूरत है। शिक्षक शुद्ध उच्चारण करके आदर्श पाठ पढ़ाए अथवा वह बालक की जीभ व होंठ पर उंगली रख कर उसी से शुद्ध उच्चारण कराए। शुद्ध उच्चारण कराने के लिए अध्यापक को तरह-तरह की आवाजों का अभ्यास कराना चाहिए। मुंह के जिन-जिन अवयवों की त्रुटि के कारण अलग-अलग तरह के दोष सामने आएं, उन अवयवों के असहयोग या कम प्रयोग को बालकों के सामने लाएं तथा उन्हें सही रूप से काम में लाना सिखाएँ—अलग-अलग स्थानों से होने वाले सही उच्चारणों की बालकों को सही जानकारी दें तथा उन स्थानों को शुद्ध कराएं। इस संबंध में शिक्षकों को ध्वनि विज्ञान (फोनेटिक्स) का सही-सही उपयोग करना चाहिए। □

प्रकरण अठारहवाँ

बालकों का आहार

डॉ. मोंटेसरी की मान्यता है कि जब तक घरों में बालकों के आरोग्य को लेकर अज्ञान की स्थिति व्याप्त रहती है, तब तक यही समीचीन होगा कि बालकों की खुराक के संबंध में उन्हें शालाओं को सौंप दिया जाए। इसी में बाल-विकास का संरक्षण समाहित है। यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि बालक के शरीर के स्वाभावानुसार उसे पचने योग्य खुराक दी जानी चाहिए। बड़ों को जो दवा दी जाती है वही कम मात्रा में बालकों को देने का कोई अर्थ नहीं है। इसी तरह बड़ों को दी जाने वाली खुराक में मात्र परिमाण का अंतर किये जाने से वह खुराक बालकों को देने योग्य नहीं बन जाती। बालक के शरीर की जरूरतें अलग होती हैं और बड़ों की अलग। भले ही बालकों के घर विद्यालय के पास हों, तब भी घर की बजाय उन्हें विद्यालय में खाना खाना अभीष्ट है। सिर्फ गरीबों के घर-परिवार में ही बाल-आरोग्य का अज्ञान नहीं होता, धनाढ्य लोगों के घरों में भी यही स्थिति होती है। जब तक धनी-मानी लोगों के घरों में भी विशेष सोच-विचार करके बाल-आहार की समुचित व्यवस्था नहीं की जाती, तब तक श्रीमंतों के बालकों को भी शाला में खाना-खिलाना अधिक लाभदायी होगा।

बाल-आहार में चरबी और चीनी पर्याप्त होनी चाहिए। रिजर्वमेटर के लिए चरबी तथा प्लास्टिक टिश्यू के लिए चीनी महत्त्वपूर्ण होती है। शरीर गठन की प्रक्रिया में चीनी उत्तेजक वस्तु होती है।

नन्हा बालक चबा-चबा कर नहीं खा सकता। दाँतों से काट कर खाने वाली चीजें उसके पेट में पच नहीं सकती। अतः सूप, पूड़ी तथा मीट बॉल्स संतुलित रूप में बालक के लिए उचित रहेगी।

बालक दो वर्ष का हो जाए तो उसे नाइट्रोजन वाले पदार्थ दिए जाने चाहिए। इसमें खास तौर पर दूध तथा अंडे जरूरी हैं। तीसरे वर्ष से

उन्हें 'ब्रोथ' भी दी जा सकती है। साढ़े तीन वर्ष का हो जाने पर 'मीट' दिया जा सकता है। गरीब बालकों के लिए मीट की बजाय शाक-भाजी ही अच्छे हैं। उन्हें फल देना भी लाभदायी है।

बालक छह वर्ष का हो जाए फिर तो वह बड़ों के लिए तैयार किया गया आहार ले सकता है। लेकिन तब तक उसके आहार की बनावट में फेर-फार करना ही चाहिए।

छोटे बच्चों के लिए 'ब्रोथ' बनाने की विधि। मीट का ब्रोथ : ब्रोथ के एक क्यूबिक सें.मी. के लिए एक ग्राम मीट लिया जाए। उसे ठंडे पानी में रखें। मसाले न डालें। बस थोड़ा-सा नमक काम में लें। फिर दो घंटों तक मीट को उबालें। उसमें थोड़ा मक्खन डालें। साधनहीन परिवारों में मक्खन की बजाय ओलिव ऑयन प्रयुक्त किया जा सकता है। मक्खन के लिए मार्गरीन आदि पदार्थ काम में न लाएं। ब्रोथ को ताजा-ताजा ही काम में लाना चाहिए। खाने का समय हो तो उससे दो घंटे पहले ब्रोथ बनाने का काम शुरू हो जाना चाहिए। ब्रोथ ठंडा होने लगता है तो उस में से कई रासायनिक पदार्थ घटने लगते हैं। जमा हुआ ब्रोथ खाने से बालक को दस्तें लगने लगती हैं।

सूप (मांड) : सादा और स्वादिष्ट सूप ब्रेड को नमकीन पानी में उबाल कर बनाया जा सकता है। अथवा ब्रेड को ब्रोथ में उबाल कर तेल का बघार देने से बना सकते हैं। गरीब परिवारों में मटर, बीन्स आदि दालों का सूप उत्तम होगा। सूखे साग भी काम में लाए जा सकते हैं। सागों को पानी में उबाल लें, फिर उन्हें निचोड़ कर स्वादिष्ट सूप बनाया जा सकता है। मक्खन भी उसमें डाल लें। डॉ. मोंटेसरी छोटे बच्चों के लिए चावल की खीर की बहुत सिफारिश करती हैं। दलिये की खीर भी पौष्टिक होती है।

दूध व अंडे : इनमें नाइट्रोजन अधिक मात्रा में होता है। ये बाल-शरीर के लिए अधिक पौष्टिक होते हैं। पर ये ताजे व शुद्ध होने चाहिए। ताजे होने पर ही इनकी जीवन ऊष्मा का लाभ मिल पाता है। ताजा दूध और गरम-गरम अंडा शरीर में जल्दी मिल जाते हैं। दूध और

अंडे को उबालने से अथवा पकाने से इनमें शरीर में मिल जाने की जो शक्ति होती है, वह चली जाती है और इनके पोषक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं।

बालकों को अच्छा दूध मिले इसके लिए अच्छी डेयरी से सम्पर्क जरूरी है। कीटविहीन दूध प्राप्त करने के लिए जहां ढोर बांधे जाते हैं वह स्थान स्वच्छ रखा जाना चाहिए। दूध दुहने से पहले पशुओं के स्तनों को, बर्तनों को तथा हाथों को पहले से ही जंतुरहित कर लेना चाहिए। अगर दूध को दूर ले जाना हो तो बर्तन को सीलबंद करना जरूरी है। यह संभव न हो तो ताजा-ताजा दूध काम में लिया जा सकता है। दूध को उबाल कर पीने से उनमें विद्यमान रोग के जंतु नष्ट होते हैं, पर उसकी प्राकृतिक पोषक शक्ति भी जल जाती है।

अंडों के बारे में भी यही बात है। मुर्गी ने दिया नहीं कि गरमागरम उठा कर बालक को खिला देना चाहिए। उसे पचाने के लिए बालक को खुली हवा में घूमने दिया जाए।

मीट का आहार : सब तरह के मीट बालक के अनुकूल नहीं होते। उन्हें बनाने में भी बालक की उम्र के अनुसार अंतर रखा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ तीन से पांच वर्ष की उम्र के बालकों के लिए कुचला हुआ मीट अच्छा रहता है।

इस उम्र में बालक को यह सिखाना चाहिए कि वह बराबर चबाकर कैसे खाए। साधारणतया बालक आहार को निगल जाते हैं, जिससे उन्हें या तो अजीर्ण हो जाता है या दस्तें।

बालक को अधिक अनुकूल पड़ता है 'वाइट मीट' अर्थात् चिकन, वील और सोल, पाइक या कॉड का हल्का मांस। चार वर्ष की उम्र के पश्चात् बीफ का आहार दिया जा सकता है लेकिन भारी या मोटा मीट यथा पिग, केपन, ईल, टनी आदि का न दें। इसी तरह साइस्टर तथा लोबस्टर का मीट भी बालक के भोजन से हटा दें।

उबाला हुआ मीट बालक को हर्गिज न दें क्योंकि उबालने से मीट के पोषक एवं पाचक तत्त्व अधिक परिमाण में नष्ट हो जाते हैं।

दूध का आहार : दूध से निर्मित वस्तुओं का विवेचन इस प्रकार है।

प्रत्येक प्रकार की 'चीज' को बालक के आहार हेतु त्याज्य समझा जाए। तीन से छह वर्ष के बालक के अनुकूल दूध का आहार सिर्फ मक्खन है।

कस्टर्ड की सिफारिश की जा सकती है, पर वह ताजा होना चाहिए। उसे या तो ताजे दूध में या ताजे अंडों में बनाया जाना चाहिए। यदि ताजापन बनाये न रखा जा सके तो उसे छोड़ देना चाहिए।

ब्रेड : बालक के लिए ब्रेड एक उत्तम आहार है, पर उसका चयन उम्दा होना चाहिए। क्रम्ब (सूखा टुकड़ा) पचने में सहज नहीं होता। पर उसे ब्रोथ बनाने में प्रयुक्त किया जा सकता है। यदि ब्रेड बालक के हाथ में ही खाने को देनी हो तो क्रस्ट–सूखा हिस्सा ही देना अच्छा रहता है। जो लोग खरीद सकें, उनके लिए ब्रेड स्टिक्स ही अच्छी रहती हैं।

ब्रेड में नाइट्रोजन के तत्त्व अधिक होते हैं। स्टार्च की मात्रा भी अधिक होती है, चरबी नहीं। बालक के आहार में तीन वस्तुएँ जरूरी हैं—प्रोटेइड्ज अर्थात् जिसमें नाइट्रोजन अधिक मात्रा में हों, ऐसे पदार्थ, स्टार्च एवं चरबी। ब्रेड में चरबी नहीं होती अतः वह अपूर्ण आहार है। अतः ब्रेड के साथ हमेशा मक्खन जरूरी है।

ताजे साग : बालकों को कच्चे साग नहीं खाने चाहिए। सेलेड आदि त्याज्य समझें। साग को पका कर खाना चाहिए। आलू को मक्खन में तल कर बनाई गई पूड़ी अच्छी रहती है।

फल : बालकों के आहार में अनेक प्रकार के फल सम्मिलित किए जा सकते हैं। फल भी दूध और अंडों की भांति ताजे होने चाहिए ताकि उनका जीवन बालकों को मिल सके और उनके शरीर में सम्मिलित हो सके।

शहरों में सामान्यतः ताजे फल नहीं मिलते। ऐसे में जो फल ताजे न हों, उनका उपयोग किस प्रकार किया जाए, यह जानना चाहिए। सब

तरह के फल बालकों के लिए उपयोगी नहीं होते। जिन फलों को उपयोग में लिया जा सकता है उनमें परिपक्वता, गुदगुदापन, मिठास और खट्टापन (एसिडिटी) के गुण मुख्य हैं। पिचीज, ऐप्रिकोटस, द्राक्ष, करेंट्स, नारंगियां तथा मेंडेरीन्स आदि ताजे उतरे हुए फल बालकों को देने से लाभ होता है। अन्य फल यथा पियर्स, एपल्स, प्लम्स को पका कर अथवा उनका 'स्टयू' (सीरप) बनाकर दिया जा सकता है।

अंजीर, पाइनेपल्स, खारक, तरबूज, चेरीज, अक्रोड, बदाम, हेजेलनट्स तथा चेस्टनट्स आदि को कई कारणों से बाल-आहार से त्याज्य समझना चाहिए।

फलों में से जो भाग पचने योग्य न हों, उन्हें निकाल देना चाहिए। जैसे छाल अथवा मूल से निगले न जाने योग्य बीज या गुठलियां। चार-पांच वर्ष के बालक को भली-भांति समझा देना चाहिए कि फलों की छाल ध्यान रखकर कैसे उतारी जानी चाहिए और उसके बीजों को कैसे फैंक देने चाहिए।

फलों को दो प्रकार से काम में लाया जाता है। या तो भाप में पका कर या फिर मुरब्बा बना कर। मुरब्बे के रूप में उनका इस्तेमाल धनाढ्य लोगों के वश की बात है।

बघार मसाले : बघार में चीनी, चरबी और नमक पर्याप्त है। इनमें विनिगर तथा लेमनजूस को जोड़ा जा सकता है। लहसुन ओर रयु (Rue) बालकों के लिए लाभदायी हैं। इनसे आंतें और फेंफड़े साफ तथा कीटरहित होते हैं।

लौंग, दाल चीनी, लाल मिर्च या काली मिर्च आदि मसाले काम में नहीं लेने चाहिए। राई को तो त्याज्य ही समझें।

पेय : बालक को पानी की बहुत जरूरत पड़ती है। उत्तम पेय तो झरने का ताजा जल होता है। धनी-मानी लोग टेबल वाटर्स - यथा, सानजेमेनी, एक्वालोडिया तथा जरा सीरप यथा ब्लेक बेरीज के साथ मिला कर भले ही दें।

जल से तैयार किए गए पेय बच्चों को न दें। शराब, बियर आदि उनकी स्वादेंद्रियों से अपरिचित रहें तो उत्तम! काफी और चाय भी उनके पास न फटकने दें।

उत्तेजक पेय से बालकों को कितना नुकसान उठाना पड़ता है, यह स्पष्ट ही है। फिर भी वर्तमान अज्ञान की स्थिति में बारंबार उस बात पर बल देने ही रहना चाहिए। शराब व एल्कोहल विकासमान बालक के शरीर के लिए विषाक्त होते हैं। इनसे उनका विकास अवरुद्ध हो जाता है उनमें पागलपन आदि के रोग घर कर लेते हैं। उनमें अन्य मनोरोग भी छा जाते हैं यथा वायु, मैनेन्जाइटिस, अजीर्ण, एनिमिया आदि।

कॉफी के बजाय जौ को सेक कर उसकी लपसी दी जा सकती है। माल्ट भी चलेगा। विशेष रूप से तो दूध के साथ मिला कर चॉकलेट देना अच्छा रहता है। बाल-आहार के लिए यह उत्तम है।

बालगृहों को इस संबंध में जन-समुदाय को शिक्षित करना चाहिए। अगर उन्हें इस काम में सफलता मिलती है तो यह नवयुग के लिए उनका एक योगदान माना जाएगा।

इस संबंध में बालगृहों को खाने-पीने का सवाल अपने हाथ में लेना चाहिए।

आहार का समय : बालक के आहार का समय कौनसा हो, यह प्रश्न भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह बात माता-पिता के हृदय में स्थाई रूप में जम जानी चाहिए और इनका कदापि भंग नहीं होना चाहिए कि बालकों की उत्तम तंदुरुस्ती एवं स्वस्थ पाचन क्रिया के लिए उनके भोजन का निश्चित समय होना ही चाहिए। इस समय के अलावा बालकों को खाने को हर्गिज न दिया जाए। लोगों में, विशेष रूप में माताओं में यह भ्रांत धारणा रहती है कि बालक तो दिन भर कुछ न कुछ खाते-पीते रहें तभी उनकी बढ़ोतरी संभव है। उनके लिए भला नियमित समय कैसा? वस्तुतः बालकों के पेट तथा पाचन-क्रिया चलाने वाले स्थान अत्यन्त कोमल तथा

नाजुक होते हैं अतएव उनके आहार की नियमितता का पालन करना अधिक आवश्यक है। भोजन के लिए निश्चित किए गए समय के अलावा उन्हें बिल्कुल नहीं खिलाना चाहिए।

बालगृह लंबे समय तक चलते हैं, अतः वहां बाल-आहार के समय पर नियमन रखा जा सकता है।

सामान्यतः बालगृह में दो बार खाने को दिया जाता है। दोपहर भरपेट भोजन तथा तीसरे पहर चार बजे हल्का नाश्ता। दोपहर को सूप, ब्रेड और मीट। धनाढ्यों के लिए फल, कस्टर्ड, मक्खन, ब्रेड आदि। चार बजे हल्के नाश्ते में सादा ब्रेड का टुकड़ा या मक्खन वाली ब्रेड, साथ में फल, यार्मलेड, चॉकलेट, मधु, कस्टर्ड आदि दिये जा सकते हैं। क्रिम्पक्रेकर्स, बिस्किट्स, उबले हुए फल आदि दिये जा सकते हैं। अधिक पौष्टिक तो है दूध में भिगोये हुए ब्रेड अथवा मेलीन्सफूड डाला हुआ एक प्याला भरा दूध।

डॉ. मोंटेसरी मेलीन्सफूड की बहुत सिफारिश करती हैं। कारण यह है कि यह पचने और पोषण में बहुत उम्दा है। बच्चों को यह इसलिए पसंद आता है क्योंकि यह सुगंधित होता है। छोटों और बड़ों दोनों के लिए यह एक उत्तम आहार है। मेलीन्सफूड जौ तथा गेहूं से बनाया जाता है। इसमें सभी वांछित पोषक तत्त्व शुद्ध एवं अर्क रूप में विद्यमान रहते हैं। प्याले में गरम पानी के साथ मेलीन्सफूड का आटा सानना तथा उस पर ताजा-ताजा दूध का प्याला भर कर उंडेलना।

शाला के इन दोनों समय के उपरांत बच्चे दो बार घर में भोजन करते हैं, सुबह नाश्ता और शाम को व्यालु। व्यालु अत्यंत हल्का होना चाहिए, क्योंकि उसके बाद बालक तत्काल सो जाता है।

इस संबंध में बालगृहों को माताओं को समझाना चाहिए।

धनी-मानी घरों में सुबह के नाश्ते में दूध-चाकलेट अथवा दूध माल्ट का अर्क, साथ में क्रेकर्स अथवा अच्छी तरह टोस्ट की हुई ब्रेड, जिस

पर मक्खन या शहद लगाया जाये तो चलेगा। गरीब के लिए तो धारोष्ण दूध का प्याला और ब्रेड पर्याप्त है।

व्यालु में सूप सर्वोत्तम है। बालकों को सूप दो बार लेना चाहिए अथवा एक दूध का प्याला लेना चाहिए। दूध की खीर भी ठीक है। साथ में मक्खन लगी ब्रेड तथा उबले फल चलेंगे।

बालगृह के साथ ही और विशेष रूप से गरीब बालकों के बालगृहों के साथ ही शाक-भाजी तथा फलों के लिए छोटा-सा एक बगीचा बनवाया जाना चाहिए। बच्चों को इसका अनेक प्रकार का लाभ मिलेगा। वे अपने आप साग और फल तोड़ेंगे तथा उन्हें ताजा साग का ताजा सूप बनाने की अनुकूलता रहेगी। गरीबों के लिए तो ताजे साग का सुख ही सर्वोत्तम है। इसके अलावा बालगृहों के साथ प्राणियों के संवर्धन की व्यवस्था भी की जानी चाहिए, ताकि, ताजा दूध और ताजे अंडे तो उपलब्ध हों। बड़े लड़के हाथ को स्वच्छ करके बकरियों को दुह सकेंगे। बालगृहों में बालकों को भोजन बनाने, परोसने, स्वच्छता आदि अनेक प्रकार के कौशलों का लाभ मिलेगा। आगे चल कर ये तमाम चीजें प्रबोधक साहित्य के बतौर ही काम करेंगी।

बालकों को स्वच्छतापूर्वक भोजन करना सिखाने की खास जरूरत है। रूमाल खराब न हो, टेबिल न बिगड़े, हाथ गंदे न हों – इस तरह उन्हें खाना सिखाना चाहिए। न स्वयं को गंदा करें, न पड़ौसी को – इस तरह स्वच्छता से खाना सिखाएं। अपने हाथों से खाने वाले बालकों को बचपन में चम्मच ही दी जानी चाहिए। □

प्रकरण उन्नीसवाँ

साधन-श्रेणी तथा क्रम

मोंटेसरी पद्धति में निश्चित समय विभाग चक्र तथा निश्चित अभ्यासक्रम जैसा कुछ नहीं होता फिर भी इसके अभ्यासक्रम के विषय और समय लिपिबद्ध तो हैं ही।

डॉ. मोंटेसरी ने शिक्षण में उपकरणों तथा अन्य कसरतों को पांच चरणों में विभाजित किया है तथा प्रत्येक चरण में साधनों का एक क्रम निर्धारित किया है।

इससे पहले कि हम इन श्रेणियों और इस क्रम का अनुसरण करें, दो-एक बातों पर हमें विचार कर लेना समीचीन होगा। डॉ. मोंटेसरी ने श्रेणी एवं क्रम निर्धारित किए हैं, इसका यह अर्थ ग्रहण कर लेना गलत होगा कि उनका सख्ती से अनुसरण किया जाए। श्रेणी और क्रम तो बालकों के अनुसार निर्मित किए गए हैं, यदि बालक इनमें परिवर्तन करना चाहता है तो उसके परिवर्तन को अंगीकार किया जाना चाहिए। श्रेणी एवं क्रम ऐसे नहीं हैं कि उनमें से एक कंकर भी हटाया न जा सके अथवा न हटाया जाना चाहिए। यह तो फकत मार्गदर्शन के लिए है अनुभव और प्रयोग इसका आधार है। फिर भी श्रेणी और क्रम के महत्त्व को हमें ध्यान में तो रखना ही होगा, क्योंकि मनचाहे चरण और क्रम के साधनों को काम में लाएंगे तो वह नुकसानदायी होगा। अतः श्रेणी को प्रामाणिक मानते हुए ही आगे चलना चाहिए और जहाँ-जहां शास्त्रीय अनुभव और प्रयोगशीलता उनमें परिवर्तन सूचित करें वहां-वहां परिवर्तन करना चाहिए। सामान्यतया प्रयोग की शुरूआत श्रेणी और क्रम से जुड़े रह कर ही किया जाए। यदि बालक उसका अनुसरण न कर सके तो साधन, शिक्षक, साधन के उपयोग की विधि, परिस्थिति आदि में से कहाँ क्या त्रुटि रह गई है, यह बात जाने बिना एकाएक श्रेणी अथवा क्रम में दोष ढूंढ़ निकालना गलत होगा।

प्रथम श्रेणी

जब बालक पहले-पहल विद्यालय में आए तो उसे निम्न प्रकार के काम बताए जाते हैं :

1. आवाज किए बिना कुर्सियों, टेबिल या शाला की अन्य वस्तुओं को हटानां-रखना।
2. बटन, सिटकनी, डोरी वाले फ्रेमों पर लगे बटनों को खोलना, लगाना, सिटकनी या कल खोलना-लगाना, गांठें लगाना-खोलना आदि।
3. गट्टा पेटी संख्या 1, 2, 3,

प्रथम दो काम व्यावहारिक शिक्षण के निमित्त हैं। तीसरा इन्द्रिय विकास तथा बौद्धिक-विकास के निमित्त। इनमें गट्टापेटियाँ सर्वाधिक उपयोगी हैं। कारण यह है कि गट्टापेटियों को उपयोग में लाकर ही ध्यान की एकाग्रता लाई जा सकती है। गट्टापेटियों को काम में लाने वाले बालकों को समानता, चयन एवं तुलनात्मक निर्णय आदि गुणों का ज्ञान प्राप्त होता है। ये एकाग्रता के तत्त्व हैं। इस शिक्षण के पीछे बौद्धिक शिक्षण निहित है।

गट्टापेटियों का क्रम इस प्रकार होगा : 1. जिनमें गट्टों की लंबाई एक-सी रहती है पर व्यास घटता है। 2. जिनमें व्यास और लंबाई दोनों घटते हैं। 3. जिनमें व्यास वही रहता है पर लंबाई घटती है।

द्वितीय श्रेणी

1. क—शांतिपूर्वक खड़ा होना और बैठना

   ख—लकीर पर चलना।
2. क—मीनारें

   ख—चौड़ी सीढ़ी

   ग—लम्बी सीढ़ी
3. चिकनी और खुरदरी सतह वाले पट्टे

4. ठंडे और गरम पानी के प्याले या थैले
5. रंग की तख्तियां (मूल रंग)
6. शांति की क्रीड़ा (ध्यान)
7. संगीत

प्रथम कार्य व्यावहारिक शिक्षण के लिए है तथा अन्य कार्य इन्द्रिय-शिक्षण के लिए।

नं. दो के साधन कद का ज्ञान कराने के निमित्त हैं अर्थात् नेत्रों को कद का ज्ञान कराने के लिए हैं। गट्टापेटियां भी कद-ज्ञान के लिए थीं और ये साधन भी इसी निमित्त हैं, फिर भी दोनों में अंतर है। ये साधन गट्टापेटियों के गट्टों से बड़े हैं। कद का अंतर इन साधनों से जितना स्पष्टतया समझ में आता है, उतना उक्त साधनों से नहीं आता। पर इतना अंतर तय है कि ये साधन स्वतः भूल सुधार कराने वाले नहीं हैं। गट्टा-पेटी में गट्टों की विशेषता ही यह है कि बालकों की भूल स्वतः पकड़ में आ जाती है, क्योंकि गट्टे दूसरों के खानों में आ ही नहीं सकते। अगर छोटा गट्टा बड़े खाने में डालते हैं तो बाकी के खानों में शेष गट्टे क्रमवार डाले ही नहीं जा सकते। यही तो खूबी है गट्टों की। इसी को उनकी भूल सुधारने की सक्षमता कहा जाता है। लेकिन इन साधनों में भूल सुधारने का काम आंख को ही करना पड़ता है। अगर आंख भूल को नहीं सुधारती तो वह भूल वैसी ही बनी रहती है, क्योंकि इस साधन में भूल सुधारने की शक्ति निहित रहती है।

एक और फर्क भी है। गट्टापेटियों से बालक एक स्थान पर बैठे-बैठे ही खेल सकते हैं जबकि इन साधनों से खेलने के लिए बार-बार उठना पड़ेगा, टेबिल से मीनारें लेनी पड़ेगी और वापिस रखनी पड़ेगी। इस खेल में बालक की वजन उठाने की कसरत भी हो जाती है। गट्टापेटियों पर काम करते समय तो बालक को साधारण कसरत का मौका मिलता था, जबकि इस खेल में अधिक जटिल और उलझन भरी कसरतें करनी पड़ती हैं।

छोटे बालक मीनारों से बहुत आकर्षित होते हैं। बचपन से ही वे ये खेल खेलते हैं। उन्हें मीनारें बनाने और ढहाने में बहुत मजा आता है। पहले तो तरह-तरह के खेल खेलते-खेलते घनों के साथ वे अदल-बदल हो जाते हैं। अपरिचय के कारण आंखों को लंबे समय तक पता ही नहीं चलता, लेकिन जब वे मीनारों से लंबे समय तक खेलते हैं तब उनकी त्रुटियां स्वतः सुधर जाती हैं। पुनरार्वतन से आंखों की शक्ति का विकास होता है और आगे चल कर आंखें अपनी त्रुटियों को पकड़ने लगती हैं। अपनी गलती समझ में आने पर बच्चों को बहुत मजा आता है।

मोटे तौर पर हमें लगता है कि लम्बी सीढ़ी मीनारों और चौड़ी सीढ़ी की तुलना में अधिक सरल है, अधिक आकर्षक है। पर वस्तुतः बात नितांत उल्टी है। अगर कभी बालक लंबी सीढ़ी से आकर्षित होकर उसके साथ खेलने लगे तो उसे कई गलतियां करनी पड़ती हैं, जबकि वह मीनार और चौड़ी सीढ़ी को सफलतापूर्वक उपयोग में ला सकता है और उनके इस्तेमाल में उससे गलती भी नहीं होती। इनके बाद में ही बालक लंबी सीढ़ी को इस्तेमाल करने में सक्षम बनता है। इससे यह सिद्ध होता है कि बालक के कद सीखने के जो भी उपकरण हैं उनमें यह सबसे कठिन उपकरण है।

जब बालक इन तमाम खेलों से आगे बढ़ जाता है तभी वह आगे के खेलों के लिए सक्षम बनता है। आगे के खेल स्पर्श तथा शीतोष्ण इन्द्रिय के विकास से संबंधित हैं।

वस्तुतः स्पर्शेन्द्रिय मूल एवं प्रथम इन्द्रिय है। यह इन्द्रिय अत्यन्त सरल तथा शरीर पर सर्वाधिक व्यापक है, फिर भी इसके शिक्षण को प्रथम स्थान पर नहीं रखा गया। कारण यह है कि स्पर्शेन्द्रिय बालक का ध्यान सबसे पहले आकृष्ट नहीं करती। अर्थात् इन इन्द्रियगम्य पदार्थों में बालक के मन को समानता, चयन तथा तुलनात्मक निर्णय करना आसान नहीं लगता।

अतः जब एक बार ध्यान जमने का काम शुरू हो जाता है तभी स्पर्शेन्द्रिय का विकास शुरू किया जाता है और बालक के समक्ष इसके

विकास के साधन रखे जाते हैं। इसके बाद में शीतोष्ण-इन्द्रिय-विकास के साधन सामने रखे जाते हैं।

अगर यथासमय बालकों के समक्ष साधन रखे जाते रहें तो उन्हें बहुत आनंद मिलता है। साधनों के खेल मोंटेसरी पद्धति में अत्यन्त उपयोगी हैं, क्योंकि इन खेलों के आनंद पर ही अक्षर-शिक्षण का आधार है। अक्षर-शिक्षण का सम्पूर्ण आधार स्पर्श तथा शीतोष्ण इन्द्रिय के यथार्थ विकास पर निर्भर है।

जब ये खेल चल रहे हों, तभी बालक को मूल रंगों के खेल दिये जाने चाहिए। रंगों की शक्ति विकसित करने के लिए यह शुरूआती खेल है।

जिस प्रकार मीनार के खेल में सिर्फ आंख से ही खेल नहीं खेला जाता और गलती होने पर उसमें स्वयं सुधार की शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार रंग की तख्तियों में भी गलती को स्वयं सुधारने की शक्ति नहीं होती। संस्कारी आंख ही गलती को सुधार सकती है। पहले के व्यायाम यदि सही ढंग से बराबर किए जाएं तो यह खेल बालक को आसान लगता है और उसे आनंद भी आता है।

इस खेल के दौरान बालक के कानों में संगीत की आवाज गूंजने लगती है। जब शिक्षक तालबद्ध संगीत बजाता है तो बालक लकीर पर चलने का अभ्यास करता है। शुरू-शुरू में बालक तालबद्ध चलने में सक्षम नहीं होता, लेकिन धीरे-धीरे उसके मन में ताल की समझ जाग्रत हो जाती है और वह गीत की ताल पर पैर रखने लगता है। बालक को ताल से सुपरिचित करने के लिए एक ही प्रकार का संगीत बार-बार बजाने की जरूरत पड़ती है, कारण यह है कि जिस प्रकार अन्य कसरतों में पुनरावर्तन के परिणामस्वरूप बालक की शक्ति विकसित होती है उसी प्रकार संगीत में भी गीत सुनने के पुनरावर्तन की जरूरत पड़ती है। इस श्रेणी में ध्यान के खेल आ जाते है। इन खेलों का पुनरावर्तन भी जरूरी है।

तृतीय श्रेणी

1. स्वयं हाथ धोना, कपड़े पहनना-उतारना, बुहारना, उपस्कर पौंछना, अलग-अलग छोटे बड़े पदार्थों को संभाल कर लाना-ले जाना।
2. (क)—रंग का क्रम

   (ख)—मुलायम और खुरदरे रेशम, मखमल, सूत आदि के टुकड़ों का परिचय (मुलायम और खुरदरेपन के क्रम में)

   (ग)—मूल रंग की क्रमिक (हल्की-भारी) तख्तियां

   (घ)—भिन्न-भिन्न प्रकार की आवाजें परखने के लिए सिलेंड्रिकल बॉक्सेज।

   (च)—वजन पहचानने के लिए अलग-अलग वजन की लकड़ी की तख्तियां।

   (छ)—लकड़ी की भौमितिक आकृतियां।

   (ज)—भूमितिक आकृतियों को भली भांति पहचानने के बाद गत्ते पर आरेखित भूमितिक आकृतियों के साथ लकड़ी की आकृतियों की समानता।

नंबर 1 के साधन व्यावहारिक-शिक्षण के लिए हैं तथा नं. 2 के साधन बौद्धिक-विकास के लिए हैं। नं. 2 छ के साधन लेखन की शुरूआत रूपी हैं तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की शुरूआत हेतु जरूरी हैं।

इस श्रेणी में स्पर्श एवं रंग के उत्तेजकों का क्रमिक परिचय कराया जाता है और वजन तथा ध्वनि-शिक्षण की शुरूआत होती है। पर मात्र इन्द्रिय-शिक्षण के लिए द्वितीय श्रेणी में भी इन आकृतियों को बालकों के समक्ष रखा जा सकता है। इस श्रेणी में स्पर्शेन्द्रिय तीव्र होती है। इस स्पर्शेन्द्रिय को लकड़ी की आकृति की कोरों के आसपास फेर कर भावी लेखन के काम में स्पर्श तथा हाथ को तैयार करना है। कागज पर आरेखित भौमितिक आकृतियों के उपयोग का एक और रहस्य है। स्थूल लकड़ी की आकृति से गत्ते की आकृति पर आने की क्रिया में स्थूल से

सूक्ष्म की तरफ जाने का शिक्षण समाया रहता है। इसके द्वारा बालक लकीरों से बनाये गए स्वरूप को पहचानना सीखते हैं। परिणामस्वरूप उनका स्थूल काले अक्षरों से लिखने के अक्षरों की तरफ जाना आसान हो जाता है। यहां लेखन कार्य की आड़ी-टेढ़ी विधियां तैयार होती हैं।

चतुर्थ श्रेणी

1. (क)—भोजन के लिए सामग्री सजाना।

   (ख)—भोजन के लिए प्रयुक्त बर्तन साफ करना।

   (ग)—कमरे की वस्तुओं को व्यवस्थित रीति से सजाना।

   (घ)—दाँत, नख, आंखों आदि को ध्यान से साफ करना।

   (च)—संतुलन बनाये रखते हुए गति से सीधी लकीर पर चलना।

   (छ)—शांति कैसे रखी जाए, चीजों को गिराये, तोड़े या खटखट किए बगैर रखना, ले जाना।
2. (क)—इन्द्रिय विकास की समस्त कसरतों का पुनरावर्तन।

   (ख)—घंटियों के द्वारा तरह-तरह की आवाजों का ज्ञान।

   (ग)—लोहे के भौमितिक आकृतियों से चित्र बनाना तथा उनमें अलग-अलग तरह के रंग भरना।

   (घ)—उपर्युक्त आकृतियों के साथ-साथ रेजमाल के अक्षरों का स्पर्श करना तथा उन्हें पहचानना।

   (च)—लंबी सीढ़ी से अंक शिक्षण की शुरूआत।

   (छ)—तैयार की कई अलग-अलग आकृतियों से चित्रित नोट-बुकों में लकीरें खींचना और विविध वस्तुओं के चित्रों में रंग भरना।

विभाग 1 वाले साधन व्यावहारिक शिक्षण के लिए हैं, विभाग 2 के साधन बुद्धि-विकास के लिए हैं।

गणित शिक्षण शुरू करने से पूर्व लंबी सीढ़ी के द्वारा किए गए विकास का पुनरावर्तन किया जाता है। पहले लंबी सीढ़ी का उपयोग अलग रीति का होता है। इस संबंध में गणित-प्रकरण में विशेष जानकारी दी गई है।

भौमितिक आकृतियों से आरेखित रेखाचित्रों में रंग भरने के लिए तरह-तरह के रेखाचित्र बनाये जाते हैं। ये रेखाचित्र बालमंदिरों में पूर्व में किए गए प्रयोगों के आधार पर तय किए जाते हैं। चित्रकला से बालकों के इन्द्रिय-विकास का काम आगे से आगे बढ़ता जाता है तथा दिन-प्रतिदिन इन्द्रिय-विकास का कार्य सुन्दर व निर्मल होता जाता है। चित्रकला बालकों की बौद्धिक रसिकता में अभिवृद्धि करती है। यह लेखन-कार्य में भी मदद करती है। फिर तो बालकों को अभ्यास-पुस्तिकाएँ भरने की जरूरत ही नहीं पड़ती। इससे उनके अक्षरों के मोड़ भी सुन्दर-सुडौल होते हैं।

इस चरण में बालक को दस तक की संख्याओं और संज्ञाओं का ज्ञान कराया जाता है।

लकड़ी के टुकड़े से लिखने के अभ्यास का काम भी इस चरण पर चलता है तथा विविध पदार्थों को दो-दो की पंक्ति में टेबिल पर सजाने तथा वह सही है या नहीं, यह बात शिक्षक को बताने का काम भी यहां चलता है। इस संबंध में विशेष विवेचन गणित के प्रकरण में है। डॉ. मोंटेसरी ने यह विधि सेगुइन की शिक्षण-पद्धति से ग्रहण की है।

पंचम श्रेणी

1. पूर्ववर्ती कार्य का सुदृढ़ीकरण
2. (क)—चल अक्षरों से शब्द तथा वाक्य लिखना।

   (ख)—शब्दों और वाक्यों का स्वस्फूर्त लेखन।

   (ग)—तैयार की गई कतरनों अथवा चिट्ठियों का वाचन।

   (घ)—वाटर-कलर का उपयोग

(च)—प्रकृति का स्वतंत्र आरेखन

(छ)—लंबी सीढ़ी के माध्यम से गणित-शिक्षण।

इस चरण में बालकों में वैयक्तिक परिवर्तन सुस्पष्ट दिखाई देने लगता है। वे गति से ज्ञानार्जन में लगते हैं। उनका बौद्धिक विकास ऐसा होता है कि जो चामत्कारिक लगता है।

ऐसी आनंददायी अभिवृद्धि को देखकर कौन आनंदित नहीं होता? विकास के नियमानुसार विकसित बालकों को देखना सौभाग्य की बात है। जो लोग प्रयोगनिष्ठ हैं वही बता सकते हैं कि उनके द्वारा बोयी गई फसल कैसी सुन्दर होगी। □

प्रकरण बीसवाँ

दैनिक कार्यक्रम

अलबत्ता, मोंटेसरी पद्धति और कार्यक्रम दोनों परस्पर विसंवादी हैं। मोंटेसरी पद्धति अर्थात् स्व-शिक्षण की पद्धति, स्वतंत्रता और स्वयं-स्फूर्ति की पद्धति। इस पद्धति में निश्चित अभ्यास-क्रम अथवा कार्यक्रम अर्थात् समय-विभाग-चक्र जैसा कुछ हो ही नहीं सकता। परन्तु मोंटेसरी पद्धति में कार्य की एक दिशा तो है ही। इन्द्रिय-शिक्षण का प्रबंध, लेखन-वाचन के साधनों की योजना; गणित, संगीत, चित्रकला और बागवानी आदि-आदि विषय इस पद्धति के कार्य क्षेत्र की ओर अंगुलि-निर्देश करते हैं। यद्यपि मोंटेसरी पद्धति सम्पूर्ण एवं समग्र बालजीवन के विकास की पद्धति है फिर भी सामाजिक या संयोगों के कारण यह स्थल एवं काल से तो जुड़ी हुई है ही; अतएव मोंटेसरी शालाओं में भी अमुक प्रकार के कार्यों की तथा अमुक समय की मर्यादा स्वतः बंध जाती है। परन्तु ये मर्यादाएँ जब तक बाल विकास के लिए घातक नहीं बनतीं या जहां तक इसकी स्वतन्त्रता की भावना में विघ्न नहीं डालतीं, वहीं तक स्वीकार्य और व्यवहार्य हैं, यह बात समझ लेने योग्य है।

समस्त मोंटेसरी शालाएं सर्वांग सम्पूर्ण नहीं हो सकतीं। किसी शाला में कोई एक खास विशेषता होगी तो किसी शाला में कोई एक न्यूनता भी हो सकती है। फिर भी सभी शालाओं में सिद्धांत का परिपालन तथा उनकी सिद्धि हेतु अनिवार्य साधनों का अस्तित्व तो होना ही चाहिए। साधन जितने दरिद्र होंगे तथा सिद्धांत जितने निर्बल होंगे, इसका तत्त्वदर्शन उतना ही अधूरा होगा।

डॉ. मोंटेसरी ने अपने 'मोंटेसरी पद्धति' नामक ग्रंथ में एकाध मोंटेसरी शाला का दैनिक कार्यक्रम सूचित किया था, उसे नमूने के बतौर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस कार्यक्रम का समय आदि दिशासूचक ही हो सकते हैं, पर उसके पीछे रहने वाली पद्धति में सिद्धांतों की मीमांसा तो अचल ही है, उसी को हमें इस कार्यक्रम के पीछे जाकर देखना है, तलाशना है।

किसी भी शाला में दो बातों का निर्णय तो होना ही चाहिए–एक, शाला का समय और दूसरा, शिक्षण के विषय। इस दृष्टि से हमें नीचे लिखे कार्यक्रम को समझना है।

यह शाला प्रातः नौ बजे खुलती है और शाम चार बजे बंद होती है। बेशक, छोटे बच्चों के लिए यह एक लंबा समय है। डॉ. मोंटेसरी ने इतना लंबा समय रखा है, इसके पीछे दो कारण हैं; एक तो मजदूरी पर जाने वाले माता-पिताओं के बच्चों को भटकने और मकान को गंदा करने देने की बजाय शाला में लंबा समय व्यतीत करना कहीं ज्यादा अच्छा होता है; और दूसरी बात यह कि यदि मोंटेसरी पद्धति के द्वारा बालक को जीवन शिक्षण देना इष्ट है तो उसे जीवन की शाला में अधिक से अधिक समय व्यतीत करना होगा। यह दूसरा कारण अधिक स्थाई और तात्त्विक कारण है। पहला कारण संयोगवश उत्पन्न होने की वजह से सनातन कारण नहीं है।

डॉ. मोंटेसरी का स्पष्ट कहना है कि बालगृह बालविकास की वाटिकाएँ हैं। बालकों को लंबे समय तक रखने का कारण द्वितीय प्रयोजन सिद्ध करना है।

अलबत्ता, डॉ. मोंटेसरी की मान्यता है कि इतना लंबा समय बीच में आराम किए बिना छोटे बच्चे बिता भी नहीं सकते। इस पद्धति के सिद्धांतों के अनुसार चलने वाली शालों में श्रम जैसी तो कोई बात ही नहीं है। क्योंकि जिस काम को करने से बालकों को श्रम लगे, उसे वे चाहें जब छोड़ सकते हैं, यही नहीं हाथ-पैरों को फैलाकर बैठकर या लेट कर वांछित विश्राम कर सकते हैं। शाला का सारा काम ऐच्छिक होने के कारण बालकों के लिए खेल स्वरूप होता है अतः बालकों को श्रम नहीं पड़ता। पढ़ने और खेलने में कोई अंतर नहीं रखे जाने के कारण बालकों को शायद ही श्रम

लगता हो! इन सबके बावजूद डॉ. मोंटेसरी ने इन शालाओं में छोटे बच्चों के सोने की खास जगह निर्देशित की है। आखिर खेल भी समाप्त होते हैं और शारीरिक विश्राम की भी जरूरत पड़ती है अतः छोटे बच्चों के लिए सोने की व्यवस्था अनिवार्य है।

शाला की लंबी अवधि में भोजन का काम भी आना जरूरी है। जो शालाएं तीन और चार वर्ष की उम्र के छोटे बच्चों के शारीरिक विकास में संलग्न हैं उनमें दिन के एकाध प्रहर की भोजन की व्यवस्था करना शैक्षिक दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। इस काम में बालकों का जो भी समय व्यतीत होता है उसका पूर्ण सदुपयोग होता है, इसमें संदेह नहीं। 'सन् 1923 में देखी गई मोंटेसरी शालाएं' शीर्षक पुस्तक में इटली की अनेक ऐसी शालाओं का वर्णन है। उससे इन शालाओं के समय विभाग-चक्र तथा कार्यक्रम की भिन्न-भिन्न दिशाएं ज्ञात की जा सकती हैं।

यहाँ डॉ. मोंटेसरी की पुस्तक में प्रकाशित समय विभाजन चक्र प्रस्तुत है।

9 से 10 बजे :
1. बालकों का आगमन
2. नमस्कार, अभिवादन आदि विधि
3. शरीर एवं कपड़ों की स्वच्छता ज्ञात करना
4. व्यवहार के दैनिक काम–धोना, मसलना आदि
5. कपड़े बदलना
6. पूरे कमरे की साफ-सफाई सुनिश्चित करना
7. वार्तालाप : बालकों ने गत दिवस क्या-क्या किया और क्या-क्या घटनाएं घटित हुई, उनके बारे में बातचीत करना
8. धार्मिक क्रियाएँ

इतनी सारी क्रियाओं के लिए 9 से 10 बजे तक का समय रखा गया है। यह पूरे साठ मिनट का समय है। प्रत्येक बालक अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार गति करता है अतः सामान्यतया इस पहले घंटे में इतना काम उक्त क्रम से सहज ही हो सके, ऐसी अपेक्षा है।

इस पहले घंटे में निर्धारित किए गए कार्य पर विचार करें तो लगेगा कि डॉ. मोंटेसरी अपनी शाला में सबसे पहले सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ काम करना पसंद करती है। वे कहती हैं कि बालक को सामाजिक जीवन के लिए तैयार करने के बाद ही उसे अन्य प्रकार की शिक्षा दी जा सकती है तथा बालक को ऐसी सामाजिक शिक्षा देने के लिए हमें अनेक वस्तुओं की तरफ बालक का ध्यान आकृष्ट करना होगा। अभिवादन एक सामाजिक व्यवहार का अंग है अतः डॉ. मोंटेसरी इस तथ्य को बालक के समक्ष शाला में प्रवेश करने के साथ ही प्रस्तुत करती हैं।

डॉ. मोंटेसरी लिखती हैं कि बालक ज्योंही शाला में आते हैं अर्थात् आने के साथ ही उनके शरीर एवं वस्त्रों की स्वच्छता के बारे में पूछताछ व देखभाल की जानी चाहिए। यथासंभव स्वच्छता की देखभाल का काम माँ के सामने चलता है, हालांकि बालकों की माताओं को उस बारे में सीधे-सीधे कुछ भी नहीं कहा जाता। इस जांच में हम हाथ, नाखून, गरदन, कान, चेहरा और दाँत की देखभाल करते हैं। बाल भी देखते हैं कि वे स्वच्छ हैं या नहीं। बालक के कपड़े फटे हुए मैले या बटन रहित हों अथवा उनके जूते मैले हों तो हम उस ओर बालक का ध्यान खींचते हैं। इस तरह की जांच करते रहने से धीरे-धीरे बालक स्वयं अपनी जांच करने लगते हैं और अपने शरीर व कपड़ों की स्वच्छता में रुचि लेने लगते हैं।

शाला में ही जल, साबुन, टूथब्रुश, टुवाल, पाउडर आदि स्वच्छता की सभी जरूरी चीजें रखी जाती हैं।

यहां बालक अपने हाथ धोना तथा नाखून साफ करना सीखते हैं। उन्हें ध्यान से अपनी आंखें और कान धोना सिखाया जाता है। उन्हें दातून करना तथा मुंह कैसे धोया जाए, यह भी सिखाया जाता है। कभी-कभी उन्हें नहलाया भी जाता है। कटि स्नान तो वे जब चाहें तभी कर सकते हैं। शरीर के किन-किन अंगों को कैसे-कैसे, किन-किन साधनों से स्वच्छ रखा जाए, यह बात उन्हें भली भांति बताई जाती है। बड़े बालकों को छोटों की

सहायता करने को प्रोत्साहित किया जाता है। इस तरह छोटे बच्चे जल्दी से जल्दी स्वाधीन बन जाएं ऐसा प्रबंध किया जाता है।

यह काम हो जाने के पश्चात् बालक गृह-व्यवहार के काम हाथ में लेते हैं। शुरू-शुरू में तो वे काम करने के लिए गले में कपड़ा बांधते हैं। छोटे बालक इस काम को आसानी से सीख जाते हैं या फिर बड़े बालक उन्हें काम में मदद करते हैं। बालक कमरे में जाते हैं, जहां कहीं कचरा, गंदगी या बिखरा हुआ हो, उसे देखकर साफ-सफाई करते हैं। साथ रहने वाला शिक्षक उन्हें बताता जाता है कि किन-किन साधनों से किन पदार्थों को साफ किया जाए अर्थात् वे उन्हें डस्टर, छोटी झाड़ू-बुहारियों-सूप आदि का उपयोग बताते हैं। कभी-कभी किसी कोने-कचोने में लगा कोई जाला दिखाकर बालकों को स्वच्छता की बात गहराई से बताई जाती है। जब बालक सारा काम अपने आप करने लग जाते हैं तब एक सुन्दर दृश्य दिखाई देने लगता है। स्वतन्त्रता से अपने आप बालक काम करने लगते हैं तो काम कम समय में ही पूरा हो जाता है।

स्वच्छता का काम पूरा हो जाने पर शिक्षक बालकों को अपने शरीर पर नियत्रंण करना तथा संतुलित रखना सिखाता है। वह उन्हें पालथी मार कर, हाथ बांधे या पास की टेबिल पर रखे सीधे और शांतिपूर्वक कैसे बैठना चाहिए यह बात बताता है। तब उन्हें बिना खटखट किए खड़े होना, बैठना, ठाठ से बोलना, बाहर जाना या आना, एक दूसरे को नमस्कार या सलाम करना, तरह-तरह की वस्तुओं को संभाल कर उठाना, एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाना-ले जाना, एक-दूसरे से चीजें सलीके से लेना-देना सिखाता है।

शिक्षक न किसी बालक को धमकाता है, न उसकी गलती निकालता है, अपितु वह धैर्यपूर्वक स्वयं करके उन्हें बताता है। जब बच्चे उनके बताए अनुसार काम करने लगते हैं तो उनका उत्साह उनके अवलोकन की आदत और रुचि को बढ़ाने के लिए कभी किसी सुन्दर रीति से चलने वाले बालक की तरफ, कभी स्वच्छ टेबिल, कमरे की तरफ या

कभी शांति से बैठे बालकों की तरफ, तो कभी सभ्यता से विनयपूर्वक नमस्कार करने वाले बालक की तरफ वह प्रसंगोपात्त ध्यान आकर्षित करता है।

जब शिक्षक यह काम कर चुकता है या जब प्रोत्साहन दे चुकता है तो वह बालकों को अपने साथ बातचीत करने के लिए निमंत्रित करता है। बालकों के साथ उसकी अनेक विषयों पर बातचीत होती है कि कल क्या खाया-पीया था, क्या-क्या खेल खेले थे, किन-किन से हिले-मिले थे, माता-पिता की सेवा टहल की थी, घर के काम में कहां कितना भाग लिया था, नया-नया क्या देखा-जाना था आदि-आदि।

शिक्षक इस बात का ध्यान रखता है कि वह बालकों से उनके घर की या निजी बातें न पूछें। वह उनसे पूछता है कि तुमने यहाँ जो खेल खेले थे, उनके बारे में घर पर माता-पिता को बताया अथवा नहीं। तुमने माता-पिता के काम में मदद दी अथवा नहीं। तुमको जो-जो मित्र रास्ते में मिले, उनको नमस्कार किया अथवा नहीं! ज्यादातर तो सोमवार को वार्तालाप कुछ लंबा चलता है। बीच में छुट्टी का दिन होने से बालकों को कहने की बातें ज्यादा होती हैं और शिक्षक को भी अधिक पूछना होता है। छुट्टी के दिन वे कहाँ-कहाँ घूमने गए, न खाने जैसी क्या चीजें खाने में आईं, जिससे बीमार पड़े। ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं। बालक ने यदि न खाने जैसी कोई चीज खाई हो और बीमार पड़ा हो, अथवा न करने योग्य काम किया हो तो शिक्षक उसे आग्रहपूर्वक फिर से वैसा न करने की सलाह देता है। इस प्रकार वार्तालाप बहुत उपयोगी और रोचक बन जाता है। वार्तालाप से भाषा की शुद्धि बढ़ती है और यह भी पता चलता है कि कौनसे विषय छोड़ देने चाहिए। इस तरह की बातों से बच्चे यह बात जान जाते हैं कि समाज में किस तरह बात की जानी चाहिए। बातचीत करने से ही बच्चों की वर्णन करने की शक्ति का विकास होता है।

वार्तालाप के कार्यक्रम के बाद दूसरा काम शुरू होता है। शेष काम इस प्रकार हैं :

10-11	बौद्धिक क्रियाएँ अर्थात खेल; खेलों के बीच-बीच बालकों के लिए आराम के थोड़े-थोड़े अंतराल आते हैं। इसी अवधि में इन्द्रियों के खेल तथा संज्ञा शिक्षण के खेल चलते हैं।
11-11.30	सादी कसरतें; चलना, कवायद करना, नमस्कार करना, चीजों को हिफाजत के साथ सूखने रखना; शरीर का संतुलन बनाए रखना।
11.30-12	भोजन और छोटी प्रार्थना
12-1	मुक्त खेल
1-2	यथा संभव खुले मैदान में प्रेरित खेल। इस अवधि में बड़े लड़के साफ-सफाई करते हैं और चीजों को जमाते हैं। स्वच्छता की साधारण जांच और फिर वार्तालाप
2-3	हाथ से मेहनत के काम; मिट्टी का काम आदि
3-4	सामूहिक कसरतें और गीत; यथासंभव खुली हवा में। प्राणियों और वनस्पतियों की देखभाल। □

अनुवादक की ओर से

शिक्षण में बालक को केन्द्रीय स्थान देकर उसके चारों ओर विविध शैक्षिक प्रवृत्तियाँ संजोने की विधियाँ तलाश करने वाले गुजरात के एक शिक्षाप्रेमी वकील श्री गिरिजाशंकर बधेका को उनके एक मित्र ने सन् 1915-16 के आसपास जब पहले-पहल डॉ. मोंटेसरी की लिखी एक पुस्तक पढ़ने को दी तब किसने सोचा होगा कि वकील साहब अपनी वकालत छोड़कर शिक्षक बन जाएंगे, अथवा वह पुस्तक उस शिक्षक को इतना गहरा रंग देगी कि वह शिक्षक शिक्षक न रहकर अपने अदेखे गुरु का एकनिष्ठ साधक एकलव्य बन जाएगा। जी हां, यह सचाई है। भारतीय शिक्षा के इतिहास में गिरिजाशंकर बधेका या गिजुभाई के संक्षिप्त नाम से जाने जाने वाले बाल-शिक्षाविद ने दक्षिणामूर्ति बालमंदिर भावनगर में बाल-शिक्षण की ऐसी अद्‌भुत साधना की कि आज भी वे कनिष्ठिका पर आसीन हैं।

उनके लिए शिक्षा का अर्थ था विकास, बदलाव, परिष्कार; सोच, सृजन, जिज्ञासा; उल्लास, सहकार, मनोरंजन। शिक्षा के लघु आकार में समाई हुई विराट शक्ति को देखने वाले वे महान दृष्टा थे और उसके पावन संस्पर्श से हजारों बालकों के जीवन-विकास तथा सामाजिक परिवर्तन के द्वारा उन्होंने सिद्ध कर दिखाया कि वे कितने महान शिक्षक थे। उनका हर पल बालकों के लिए समर्पित था। उनका हर सोच बालकों के विकास हेतु विविध रोचक प्रवृत्तियों और कार्यक्रमों की तैयारी में सन्निहित था। वे नित नई प्रवृत्तियां रचते थे ताकि बालकों को नवीनता मिले, उनकी कल्पना और उड़ान को नया आकाश मिले, उनकी रचनाशीलता को नई दिशाएं मिलें और विद्यालय उनके लिए घर से भी बड़ा आकर्षण का केन्द्र बना रहे।

गिजुभाई को जानने के लिए उनकी शिक्षा संबंधी पन्द्रहों पुस्तकों का स्वाध्याय हमारे लिए बहुत जरूरी है। उन्हें जानने का अर्थ है देश की

संस्कृति को जानना तथा शिक्षा के उन प्रयोजनों को जानना जो राष्ट्र की अपेक्षानुसार योग्यतम व्यक्तियों के निर्माण के लिए जरूरी हैं। उन्हें जानने का अर्थ हैं बालमन की बारीकियों, शिक्षण की रोचक व प्रभावी विधियों, शिक्षक की संलग्नता और अभिभावकों के दायित्वों को जानना। गिजुभाई के अनुसार शिक्षा के सामाजिक एवं राष्ट्रीय लक्ष्य होते हैं और यदि बालक उनसे परिचित न हों तो वह शिक्षा शिक्षा नहीं। गुलाम राष्ट्र को स्वतंत्र नागरिकों की आवश्यकता थी–गिजुभाई ने शिक्षण में स्वतंत्रता का वातावरण देकर स्वतंत्रचेता पीढ़ी निर्मित की। हमें निर्भय, स्वनिर्भर, परिश्रमी, सहकार प्रिय और उद्यमी नागरिकों की आवश्यकता थी–गिजुभाई ने ऐसी ही शैक्षिक प्रवृत्तियों का जाल बिछा कर सद्‌गुण-सम्पन्न पीढ़ी निर्मित की। गांधीजी अहिंसक व न्यायप्रिय समाज के आकांक्षी थे। गिजुभाई ने विद्यालयों से हिंसा को निकाल कर तथा बालकों में नैतिक सूझ-समझ विकसित करके बापू की आकांक्षा के अनुरूप उत्तम समाज निर्मित करने में मदद की। देश में लोकतंत्र की सुदृढ़ता, सामाजिक सौहार्द तथा राष्ट्रीय विकास के लिए नई पीढ़ी को हम आज उत्तम शिक्षा देना चाहते हैं। ऐसे में गिजुभाई के द्वारा लिखी गई पन्द्रहों पुस्तकें हमारे लिए सदैव मार्गदर्शक बनी रहेंगी। शिक्षक समुदाय 'दिवास्वप्न', 'बाल शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया' तथा 'मोंटेसरी पद्धति' को तो आत्मसात करें ही, 'माता-पिता से', 'माता-पिता के प्रश्न', 'माँ-बाप बनना कठिन है', 'प्राथमिक शाला में शिक्षण पद्धतियां', 'प्राथमिक शाला में शिक्षक' आदि पुस्तकें भी पढ़ें और उन पर परस्पर बातचीत, संवाद, गोष्ठियां करें।

'मोंटेसरी पद्धति' शीर्षक यह पुस्तक गिजुभाई ने सन् 27 में प्रकाशित की थी और सन् 32 में इसका द्वितीय संस्करण निकला था। तब से लेकर लगभग पचास वर्षों तक यह पुस्तक शिक्षा जगत से अछूती रही। सन् 83 में इसका तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। पर हिन्दी में अनूदित होकर यह पहली ही बार पाठकों के समक्ष आ रही है। इसके कई अध्याय डॉ. मोंटेसरी की 'मोंटेसरी मैथड' नामक पुस्तक के अध्याय के आधार पर तैयार किए गए हैं, पर यह पुस्तक उसका सर्वथा अनुवाद नहीं है। सन्

1927 (आश्विन संवत् 1983) में इसके प्रथम गुजराती संस्करण के प्रकाशन के अवसर पर अपने निवेदन में श्री नानाभाई भट्ट ने लिखा था, 'आज जबकि सम्पूर्ण विश्व जीवन के घोर विग्रह के कारण थक गया है और मनुष्य की आत्मा शांति के नूतन मार्ग की खोज में बेचैन है, ऐसे समय में इस पुस्तक में अंतर्निहित स्वतंत्रता एवं स्वयंस्फूर्ति का महामंत्र हमारे जीवन में फिर से उल्लास पैदा करेगा तथा आने वाले कल के निमित्त अधिक सच्चा इंसान गढ़ेगा, ऐसी कामना की जा सकती है।'

गुजराती पुस्तक की भूमिका लिखते हुए श्री मूलशंकर मो. भट्ट ने लिखा है गिजुभाई की यह पुस्तक नए शिक्षकों के लिए ज्योति की जाज्वल्यमान मशाल है। नए प्रयोगों के प्रति निष्ठावान शिक्षक इसके माध्यम से शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षा सिद्धांत, शिक्षण प्रविधि तथा नूतन ऊर्जा से समन्वित होकर स्वयं को सुसज्जित कर सकते हैं। गिजुभाई ने बाल-शिक्षण में तो नूतन प्रयोग किए ही थे, बालकों की अभिव्यक्ति को निखारने, उन्हें प्राचीन एवं समसामयिक ज्ञान से अवगत कराने तथा रोचक कथा-कहानियां पढ़ने के लिए अत्यन्त सरस बाल-साहित्य का सृजन भी किया था।

शिक्षक में उनकी गहन आस्था थी अतः वे उनके श्रेष्ठ एवं सुसंगत प्रशिक्षण के भी पक्षधर थे। अध्यापन बाल-मन्दिर की स्थापना और उसके माध्यम से बाल-केन्द्रित शिक्षा को सुदृढ़ बनाने में सक्षम शिक्षकों को तैयार करने के लिए गिजुभाई के प्रयास अद्वितीय हैं। 'शिक्षण-पत्रिका' के प्रकाशन के द्वारा उन्होंने अपने साथी शिक्षकों और अभिभावकों से संवाद का स्थाई सिलसिला भी निर्मित किया था। आज भी वे अंक उद्वेलनकारी रचनाओं से युक्त तथा पठनीय हैं।

बाल शिक्षण से जुड़ी हुई संस्थाएं और शिक्षक न मोंटेसरी पद्धति को नकार सकते, न गिजुभाई के व्यवहार-दर्शन को। नवाचारी एवं नवोन्मेषी शिक्षकों के लिए तो यह पुस्तक एक चिरस्थाई अवदान है। □